कर्म सिद्धान्त

क्षु० जिनेन्द्र वर्णी

श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला

☐ *प्रकाशक*
श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला
५८/४ जैन स्ट्रीट पानीपत ।
दूरभाष (०१७४२) ६३८६५५

© सर्वाधिकार सुरक्षित

☐ प्रथम आवृत्ति : १००० प्रति सन् १९६७
द्वितीय आवृत्ति : १००० प्रति सन् १९८१
तृतीय आवृत्ति : २००० प्रति सन् १९८२
चतुर्थ आवृत्ति : २००० प्रति सन् १९९४
पंचम आवृत्ति : २००० प्रति सन् २००१

☐ *मूल्य २५/-*

☐ *मुद्रक*
विद्या प्रकाशन मन्दिर, मेरठ

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश की रचना
एक चमत्कार

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के रचयिता तथा सम्पादक श्री जिनेन्द्र वर्णी का जन्म १४ मई १९२२ को पानीपत के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० श्री जयभगवान् जी जैन एडवोकेट के घर हुआ। केवल १८ वर्ष की आयु में क्षय रोग से ग्रस्त हो जाने के कारण आपका एक फेफड़ा निकाल दिया गया जिसके कारण आपका शरीर सदा के लिए क्षीण तथा रुग्ण हो गया। सन् १९४१ तक आपको धर्म के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं थी। अगस्त १९४१ के पर्यूषण पर्व में अपने पिताश्री का प्रवचन सुनने से आपका हृदय अकस्मात् धर्म की ओर मुड़ गया। पानीपत के सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा शान्त-परिणामी स्व० पं० रूपचन्द जी गार्गीय की प्रेरणा से आपने शास्त्र-स्वाध्याय प्रारम्भ की और सन् १९५८ तक सकल जैन-वाङ्मय पढ़ डाला। जो कुछ पढ़ते थे उसके सकल आवश्यक सन्दर्भ रजिस्ट्रों में लिखते जाते थे।

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के नाम से प्रकाशित जो अत्यन्त परिष्कृत कृति आज हमारे हाथ में विद्यमान है, वह इसका प्रथम रूप नहीं है। इससे पहले भी यह किसी न किसी रूप में पाँच बार लिखी जा चुकी है। इसका यह अन्तिम रूप छठी बार लिखा गया है। इसका प्रथम रूप ४-५रजिस्ट्रों में जो सन्दर्भ संग्रह किया गया था, वह था। द्वितीय रूप सन्दर्भ संग्रह के खुले परचों का विशाल ढ़ेर था। तृतीय रूप 'जैनेन्द्र प्रमाण कोश' नाम वाले वे आठ मोटे-मोटे खण्ड थे जो कि इन परचों को व्यवस्थित करने के लिए लिखे गये थे। इसका चौथा रूप वह रूपान्तरण था जिसका काम बीच में ही स्थगित कर दिया गया था। इसका पाँचवा रूप वे कई हजार स्लिपें थी जो किसी जैनेन्द्र प्रमाण कोश तथा इस रूपान्तरण के आधारपर वर्णी जी ने ६-७ महीने लगाकर तैयार की थी तथा जिनके आधार पर अन्तिम रूपान्तरण की लिपि तैयार करनी इष्ट थी। इसका छठा रूप यह है कि जो कि 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के नाम से आज हमारे सामने है।

यह एक आश्चर्य है कि इतनी रुग्ण काया को लेकर भी वर्णी जी ने कोष के संकलन, सम्पादन तथा लेखन का यह सारा कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। सन् १९६४ में अन्तिम लिपि लिखते समय अवश्य आपको अपनी शिष्या ब्र० कुमारी कौशल का कुछ सहयोग प्राप्त हुआ था, अन्यथा सन् १९४१ से सन् १९६५ तक १७ वर्ष के लम्बे काल में आपको तृण मात्र भी सहायता इस सन्दर्भ में कहीं से प्राप्त नहीं हुई। यहाँ तक कि कागज जुटाना, उसे काटना तथा जिल्द बनाना आदि काम भी आपने अपने हाथ से ही किया।

यह केवल उनके हृदय में स्थित सरस्वती माता की भक्ति का प्रताप है कि एक असम्भव कार्य भी सहज संभव हो गया और एक ऐसे व्यक्ति के हाथ से संभव हो गया जिसकी क्षीण काया को देखकर कोई यह विश्वास नहीं कर सकता कि इसके द्वारा कभी ऐसा अनहोना कार्य सम्पन्न हुआ होगा। भक्ति में महान् शक्ति है, यही कारण है कि वर्णी जी अपने इतने महान् कार्य का कर्तृत्व सदा माता सरस्वती के चरणों में समर्पित करते आये हैं और कोश को सदा उसी की कृति कहते आये हैं। यह है भक्ति तथा कृतज्ञता का आदर्श।

यह कोश साधारण शब्द-कोश जैसा कुछ न होकर अपनी जाति का स्वयं एक ही कोश है। शब्दार्थ के अतिरिक्त शीर्षकों, उपशीर्षकों तथा अवान्तर शीर्षकों में विभक्त वे समस्त सूचनायें इसमें निबद्ध हैं जिनकी कि किसी भी प्रवक्ता, लेखक अथवा संधाता को आवश्यकता पड़ती है। शब्द का अर्थ, उसके भेद-प्रभेद, कार्य-कारणभाव, हेयोपादेयता, निश्चय-व्यवहार तथा उसकी मुख्यता गौणता, शंका समाधान, समन्वय आदि कोई ऐसा विकल्प नहीं जो कि इसमें सहज उपलब्ध न हो सके। विशेषता यह है कि इसमें रचयिता ने अपनी ओर से एक शब्द भी न लिखकर प्रत्येक विकल्प के अन्तर्गत अनेक शास्त्रों से संकलित आचार्यों के मूल वाक्य ही निबद्ध किए हैं। इसलिए यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जिसके हाथ में यह महान् कृति है। उसके हाथ में सकल जैन-वाङ्मय है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश का अब तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसे भोपाल की जैन समाज ने देश-विदेश के विभिन्न विश्वविद्यालयों को अपनी धनराशि से उपलब्ध कराने का प्रबन्ध किया है। इसका पंचम इण्डेक्स खण्ड भी भारतीय ज्ञान-पीठ से ही प्रकाशित हो चुका है। जैन दर्शन के अध्येताओं के लिए श्रद्धेय वर्णी जी की यह अभूतपूर्व देन है।

सुरेश कुमार जैन
पानीपत

चित्र परिचय

पुस्तक के ऊपर कवर पर जो चित्र दिया गया है वह अनुक्त रूप से पुस्तक के आशय को प्रदर्शित करता है। इस चित्र में सागर के जल में निमग्न एक अर्ध विकसित कमल दिखाया गया है जिसका मुख जल से बाहर आकाश की ओर ऊपर उठा होने की बजाय नीचे की ओर झुका हुआ है। यहाँ कमल संसारी जीव के स्थान पर है और सागर अनन्त कर्म राशि रूप संसार के स्थान पर है। जिस प्रकार कमल का स्वभाव जल से बाहर रहना है उस में डूबकर रहना नहीं, उसी प्रकार जीव का स्वभाव कर्मों के बन्धन से बाहर रहना है उनमें डूबकर रहना नहीं। जिस प्रकार स्वभाव विरुद्ध होने के कारण जल-मग्न कमल विकास की बजाय ह्रास को ही प्राप्त होता है अर्थात् दु:ख तथा ताप में जलता रहकर नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार विकास रुद्ध हो जाने के कारण यह कमल निराशा में गर्दन नीचे को लटकाये हुए स्थित है उसी प्रकार विकास रुद्ध हो जाने के कारण संसारी जीव भी सदा निराशा में गर्दन लटकाये जीवन बिताता है।

इस प्रकार यह चित्र कर्म-सलिल में निमग्न उस जीव की दयनीय दशा का निदर्शन करता है, जो जल में डूबे हुए कमल की भाँति आत्म-विकास से वञ्चित रह रहा है, और आशा-निराशा के झूले में झूलता हुआ अपना जीवन बिता रहा है। यदि गुरु-चरण-शरण को प्राप्त होकर सत्पुरुषार्थ जाग्रत करे तो धीर-धीरे इस महा सलिल से ऊपर उठकर संसार सागर को तर जाये।

जिनेन्द्र वर्णी

रहस्योद्घाटन

अहो ! ऋषियों की परमानुकम्पा कि जो नवनीत उनके समाधिगत चित्त में प्रादुर्भूत हुआ, जिस अमृत को उन्होंने अनेकों बलिदान देकर कठोर तपस्याओं से प्राप्त किया, उसको वे बाँट रहें हैं निःशुल्क। जो आये वह पीकर अमर हो जाये। कितनी करुणा है तथा कितना वात्सल्य है उन्हें प्राणी मात्र से कि विषय वासना की भट्टी में भड़ा भड़ जलते देखकर किस प्रकार उन्हें वहाँ से निकाल लेना चाहते हैं। जिस देव को उन्होंने हृदय की गहन गुफा में स्थूल व सूक्ष्म अनेकों आवरणों का भेदन करके बड़े परिश्रम से खोज निकाला है, जिसके कुछ क्षण के दर्शन मात्र से भव भव के सन्ताप शान्त हो जाते हैं, कृतकृत्यता का अनुभव होता है, और समस्त वासनायें शान्त होकर अक्षयानन्द की प्राप्ति होती है, उस प्रभु के दर्शन कर लेने से उनकी वाणी सहज ही खिर उठी , कि ओ जगवासियों ! तुम भी उस देव को अपने हृदय में खोजो। यह परमात्मा इस देह रूप देवालय में तिष्ठता है, परन्तु खेद है कि इन आँखों से उसका देखा जाना सम्भव नहीं है। उसके लिये दिव्य चक्षु चाहिये जिसकी प्राप्ति के लिये हृदयगत सूक्ष्म से सूक्ष्म आवरण का भेदन करना होगा। कुछ मात्र स्थूल आवरणों के भेदन से प्राप्त किंचित् प्रकाश में कदाचित् उसके दर्शनों की भ्रान्ति हो जाया करती है। अतः भो भव्य ! सभी भ्रान्तियों से बचकर उस महात्मा का दर्शन स्पर्शन तथा अनुभवन करो। प्रस्तुत ग्रन्थ इन भ्रान्तियों का कारण दर्शाकर उनसे बचने का उपाय बताता है इन भ्रान्तियों का कारण है कर्म। यद्यपि इस सिद्धान्त का विवेचन अन्य दर्शनकारों ने भी किया है परन्तु इस विषय का जितना विशद विवेचन जैनाचार्यों ने किया है वैसा अन्यत्र नहीं पाया जाता। संक्षेप में उसका परिचय निम्न प्रकार है—

वस्तु मुख्यतया दो प्रकार की होती है—द्रव्यात्मक तथा भावात्मक। पारमार्थिक मार्ग में द्रव्य की अपेक्षा भाव ही सर्वत्र प्रधान होता है। जीव के भावों का निमित्त पाकर 'कर्म' नामक एक सूक्ष्म जड़ द्रव्य जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाही होकर स्थित हो जाता है। जीव का वह भाव तो भाव-कर्म कहलाता है और उसके निमित्त से जो सूक्ष्म जड़ द्रव्य उस में प्रविष्ट होता है वह द्रव्य-कर्म कहा जाता है। जीव तथा जड़ का यह सम्बन्ध अनादिगत है। खान में से निकले स्वर्ण-पाषाण की भाँति जीव के साथ मन वचन काय इन तीन योगों का सम्बन्ध प्राकृतिक है, जिनके द्वारा वह नित्य ही कुछ न कुछ कर्म करता रहता है। इस कर्मका संस्कार चित्त-भूमि पर अंकित होता जाता है। प्रथम क्षण में जो संस्कार उसमें प्रवेश पाता है वह 'आस्रव' कहलाता है और उत्तरोत्तर उसका परिपुष्ट होते रहना 'बन्ध' कहा जाता है। बन्ध को प्राप्त यह संस्कार भीतर ही भीतर जीव को पुनः पुनः वही कर्म करने के लिये उकसाया करता है। करणानुयोग में इस सूक्ष्म जड़ द्रव्य को 'कर्म' संज्ञा दी गई है उसका कारण यह है कि इसके द्वारा जीव के सूक्ष्म से

सूक्ष्म भाव-कर्म का सरल रीति से कथन करना सम्भव हो जाता है। वास्तव में यहाँ इस द्रव्य-कर्म को बताना इष्ट नहीं है, न वह कुछ दु:ख ही देता है। उस पर से जीव के भाव कर्म को दर्शाना इष्ट है और वह ही दु:ख सुख में हेतु होता है। द्रव्य-कर्म जीव के भावों को मापने का एक यन्त्र मात्र है। अत: उस नाम के कर्म से उस प्रकार के भाव को ही ग्रहण करना चाहिये।

पूर्व-सञ्चित संस्कार या कर्म-बन्ध से तदनुकूल गति इन्द्रिय व काय आदि मिलते हैं, जिससे प्रेरित हो कर जीव पुन: वही भाव या कर्म करता है। उससे फिर संस्कार तथा कर्म-बन्ध और उससे फिर गति आदि। यह चक्र अनादि से चला आ रहा है और चलता रहेगा। अब प्रश्न यह होता है कि यह चक्र कैसे रुके। इसका उपाय कर्म-सिद्धान्त बताता है।

जड़ कर्म जीव को बल पूर्वक वैसा भाव कराता हो, ऐसा नहीं है। 'वह कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है या करने में निमित्त होता है जिसमें कि जीव को प्राय: वैसा भाव करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। संस्कारका बल भी सदैव समान नहीं रहता, तीव्र तथा मन्द होता रहता है। तीव्र शक्ति से युक्त कर्म तथा संस्कार के उदय में भले ही जीव को विवश तदनुकूल भाव करने पड़ें, परन्तु मन्द उदय में यदि सद्गुरु की शरण प्राप्त हो जाय और उनका उपदेश सुने तो तत्त्व चिन्तन की दिशा में झुककर कदाचित् अहंकार से निवृत्त होना उसके लिए सम्भव हो सकता है। ऐसी दशा उत्पन्न हो जाने पर पूर्व संस्कारों का बल उत्तरोत्तर ढीला पड़ता जाता है और उनके स्थान पर कुछ नवीन संस्कारों का निर्माण होने लग जाता है। इस प्रकार संस्कारों की और उनके साथ-साथ कर्मों की दिशा बदल जाती है। अशान्ति-जनक संस्कारों की गति रुद्ध हो जाती है। इसे 'संवर' कहते हैं। शान्तिजनक नवीन संस्कारों का बल उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है जिससे पुरातन संस्कारों की शक्ति क्षीण होने लगती है। धीरे-धीरे वे मृत प्राय: हो जाते हैं। इसको निर्जरा कहते हैं। यह समस्त प्रक्रिया आगम में अपकर्षण उत्कर्षण संक्रमण उदय उदीरणा उपशम क्षय आदि विभिन्न नामों से विस्तार सहित बताई गई है।

इसी क्रम से धीरे-धीरे आगे चलने पर साधक उन नवीन संस्कारों को भी क्षीण कर देता है और निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाता है, अर्थात् अन्तरंग तथा बहिरंग समस्त मानसिक व्यापार को रोककर समता भूमि में प्रवेश कर जाता है। तब उसके हृदय में उस ज्ञान मूर्ति के दिव्य दर्शन होते हैं जिसमें कि तीन लोक तीन काल हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो उठते हैं। जीव की यह दशा 'जीवन्मुक्त' कहलाती है। संस्कार-विहीन हो जाने पर कुछ काल पश्चात् कायिक तथा वाचिक क्रियायें भी स्वत: रुक जाती हैं और यह स्थूल शरीर भी किनारा कर जाता है। अब वह महाभाग्य 'विदेह मुक्त' होकर सदा के लिए चिदानन्दघन में लीन हो जाता है। साधक के मार्ग में

प्राय: भयंकर विघ्न आते हैं। इस रहस्य को जानना सरल नहीं है। बड़े बड़े तपस्वी उनसे अनिभज्ञ रहने के कारण धोखा खा जाते हैं। उनमें से एक प्रधान विघ्न यह है कि जब साधक अशान्ति-जनक स्थूल संस्कारों पर विजय पा लेता है। और उसके प्रभाव से जब उसमें एक धीमी सी ज्योतिमयी रेखा की झलक आती है तो वह अपने को पूर्ण काम समझ बैठता है। इसका कारण यह है कि कि वह झलक इतनी स्वच्छ तथा शीतल होती है कि साधक के सर्व ताप क्षण भर के लिय शान्त हो जाते हैं। इस भ्रान्ति के कारण साधक ज्यों ही कुछ प्रमाद करता है त्यों ही उसके प्रसुप्त संस्कार जागृत होकर उसे ऐसा दबोचते हैं कि बेचारे को सर उभारने के लिए भी अवकाश नहीं रह जाता और पथ-भ्रष्ट होकर चिर काल तक जगत के कण-कण की खाक छानता फिरता है। उसकी यह दशा अत्यन्त दयनीय होती है।

आचार्यों की करुण कृपा का कहाँ तक वर्णन किया जाय। बुद्धि से अगोचर इन सूक्ष्म संस्कारों के प्रति साधक को जागरुक करने के लिये उन्होंने गुणस्थान परिपाटी के द्वारा उनकी अदृष्ट सत्ता का बोध कराया है। समाधिगत निर्विकल्प साधु के हृदय की किसी गहराई में बैठे उनकी सत्ता का दिग्दर्शन करा के उनके उदय की सम्भावना के प्रति चेतावनी दी है। बुद्धि-गम्य की अपेक्षा बुद्धि से अतीत इन वासनागत संस्कारों को तोड़ना अत्यन्त क्लेशकर होता है। लब्धिगत इनका उन्मूलन किये बिना आनन्दघन में प्रवेश होना सम्भव नहीं।

अत्यन्त परोक्ष होने के कारण इस विषय को शब्दों द्वारा समझाना कोई सरल काम नही है। इसे समझने के लिए अत्यन्त केन्द्रित उपयोग की तथा कटिबद्ध लम्बे अभ्यास की आवश्यकता है। संक्षेप में इसका परिचय देना एक प्रकार से इस विषय का उपहास है। तथापि स्वाध्याय प्रेमियों के विशेष आग्रह से मैं यह दु:साहस करने बैठा हूँ, जिसके लिए सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान् मुझे क्षमा करेंगे, और अपनी ओछी बुद्धि के कारण कहीं स्खलित हो जाऊँ तो समुचित सुधार करके मुझे अनुगृहीत करेंगे। अलौकिक बुद्धि के धारक श्री वीरसेन गणी तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती जैसे महान व्यक्तित्व का ही इस विषय में प्रवेश सम्भव है। मैं बुद्धिहीन एक बालक मात्र हूँ। अत: यहाँ जो कुछ भी मेरे द्वारा बताया जाने वाला है उसे इस विषय का अत्यन्त स्थूल तथा धुन्धला परिचय मात्र ही समझें। इसका यथार्थ परिचय करणानुयोग की शरण में जाये बिना सम्भव नहीं है। यह छोटी सी पुस्तक आपको उसकी शरण में जाने की प्रेरणा दे, बस इतनी ही मेरी प्रभु से प्रार्थना है। अध्यात्म प्रेमियों के हृदय में इस अनुयोग को पढ़ने की रुचि जागृत हो, बस इतनी मात्र ही मेरी भावना है।

जिनेन्द्र वर्णी

प्रकाशकीय

पूज्य गुरुवर श्री जिनेन्द्र वर्णी जी द्वारा लिखित इस लघुकाय ग्रन्थ का पंचम संस्करण प्रकाशित करवाते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

श्रुतज्ञान के पारगामी कर्म सिद्धान्त के मर्मज्ञ परम श्रद्धेय गुरुवर ने इस छोटी सी पुस्तक में कर्म सिद्धान्त जैसे कठिन व व्यापक विषय को सरल और संक्षिप्त भाषा में निबद्ध करके जिज्ञासुओं को उपकृत किया है। इस पुस्तक के पहले चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं परन्तु इसे पढ़ने की जिज्ञासा आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसी का परिणाम पंचम संस्करण के रूप में यह पुस्तक हमारे हाथ में है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला की स्थापना २३ मई सन् १९८१ में परम श्रद्धेय गुरुदेव के सान्निध्य में हुई थी। तब से अब तक पूज्य गुरुदेव द्वारा रचित सभी ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला से छपते रहे हैं।

१९९२ से अब तक की अल्पअवधि में प्रकाशित निम्न ग्रन्थों की तालिका से सहज ही ग्रन्थमाला के कार्यों का अनुमान लगाया जा सकता है—१. शान्तिपथ प्रदर्शन के तीन संस्करण; २. अध्यात्म लेखमाला के दो संस्करण; ३. कर्म सिद्धान्त के दो संस्करण; ४. कर्म रहस्य; ५. पदार्थ विज्ञान; ६. प्रभु वाणी; ७. सत्यदर्शन; ८. वर्णी दर्शन; ९. कुन्द-कुन्द दर्शन; १०. जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त—एक तुलनात्मक अध्ययन।

समस्त प्रकाशन कार्यों में उनके परम शिष्य ब्र० अरिहन्त कुमार जैन का पूर्ण सहयोग रहता है। ब्र० कुमारी मनोरमा जैन रोहतक, ब्र० कुमारी निर्मला जैन वाराणसी एवं श्री सूरजमल जैन गाजियाबाद वालों का भी ग्रन्थमाला के कार्यों में तन-मन और धन से सहयोग मिलता रहता है। जिनवाणी की यह निःस्वार्थ सेवा उनके साधना पथ को प्रशस्त करेगी, ऐसी हमें पूर्ण आशा है।

श्री जिनेद्र वर्णी ग्रन्थमाला
पानीपत

विषय सूची

सं०	विषय	पृष्ठ
१.	**कर्म व कर्म फल :** १. रहस्योपदेष्टा सर्वज्ञ, २. वैचित्र्य अहैतुक नहीं, ३. मूल हेतु कर्म, ४. ईश्वर-कर्तृत्व निषेध ।	१
२.	**वस्तु स्वभाव :** १. करणानुयोग, २. वस्तु-स्वभाव, ३. वस्तु विभाग, ४. स्वचतुष्टय, ५. द्रव्य व भाव, ६. पर्याय ।	५
३.	**पुद्गल परिचय :** १. पुद्गल, २. पुद्गल बन्ध, ३. जाति भेद, ४. शरीर ।	१३
४.	**जीव परिचय :** १. जीव, २. शरीर निमार्ण क्रम, ३. योग उपयोग ।	१७
५.	**बन्ध परिचय :** १. बन्ध वैशिष्ट्य, २. जीव-पुद्गल बन्ध, ३. कथंचित् मूर्त्तिमत्त्व, ४. पंचविध शरीर ।	२१
६.	**कर्म परिचय :** १. पुनरावृत्ति, २. कर्म-सामान्य, ३. द्रव्यकर्म भावकर्म, ४. चतुः श्रेणी बन्ध ।	२५
७.	**कारण-कार्य सम्बन्ध :** १. निमित्त कारण, २. निमित्त नैमित्तिक भाव ।	२९
८.	**प्रकृति बन्ध :** १. विस्रसोपचय, २. कर्म-प्रकृति, ३. घाति अघाति-विभाग, ४. अष्टप्रकृति विभाग ।	३३
९.	**मोहनीय प्रकृति :** १. मोहनीय, २. दर्शनमोहनीय, ३. चारित्र, ४. चारित्रमोहनीय, ५. गुणविकास क्रम, ६. अट्ठाईस प्रकृति ।	३७

१०. स्थित्यादि बन्ध : ४४

१. स्थिति, २. बन्ध उदय सत्त्व,
३. अनुभाग, ४. प्रदेश ।

११. कर्मबन्ध : ४८

३. कथन-पद्धति, ४. बन्ध के निमित्त,
५. स्थित-अनुभाग-प्राधान्य, ६. प्रदेशास्रव,
७. अनुभाग उद्भव, ८. स्थिति उद्भव,
९. आयुकर्म ।

१२. उदय तथा सत्त्व : ५५

१. उदय, २. सत्त्व,
३. बन्ध उदय सत्त्व सम्मेल ।

१३. संक्रमणादि : ५८

१. निराशा में आशा, २. भूमिका,
३. संक्रमण, ४. अपकर्षण, ५. उत्कर्षण ।

१४. उपशम आदि : ६४

१. भूमिका, २. उपशम, ३. क्षयोपशम,
४. क्षय, ५. पंच भाव, ६. संवर निर्जरा ।

१५. कर्म-पुरुषार्थ समन्वय : ७२

१. प्रधान प्रश्न, २. यथार्थ पुरुषार्थ, ३. तप का स्थान,
४. तपका स्वरूप, ५. कर्म पुरुषार्थ समन्वय ।

१६. कर्मोन्मूलन : ७७

१. शंका, २. समन्वय, ३. पुरुषार्थ उद्भव,
४. पंच लब्धि, ५. मोहोन्मूलन, ६. घात्युन्मूलन,
७. अघात्युन्मूलन, ८. उपसंहार ।

'मैं चेतन हूँ, जानना देखना मेरा कर्त्तव्य है' ऐसा निर्णय न करना तथा अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र का उल्लंघन करके अन्य पदार्थों के साथ स्वामित्व सम्बन्ध जोड़ना, उनमें अहंकार ममकार करना, उनको अपने लिए इष्ट या अनिष्ट समझना तथा आसक्त-चित्त हुआ उनमें वर्तन करना, ये सब आध्यात्मिक अपराध हैं, अतः बन्ध के कारण हैं, विकास के विरोधी हैं। ऐसे भावों को प्रकट न होने देने में ही कर्म-बन्धन से मुक्त होने की साधना निहित है। ऐसी तात्त्विक दृष्टि प्रदान करने वाले 'जिनेन्द्र' भगवान् हम सबको बल दें कि हम भी उनकी भाँति कर्मों का उन्मूलन कर अर्हन्त पद को प्राप्त हो सकें, इस महा सलिल से ऊपर उठकर, संसार सागर से पार हो सकें।

१. कर्म व कर्म फल

१. रहस्योपदेष्टा सर्वज्ञ, २. वैचित्र्य अहैतुक नहीं,
३. मूल हेतु कर्म, ४. ईश्वर-कर्तृत्व निषेध।

कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनं।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम्॥

१. रहस्योपदेष्टा सर्वज्ञ—प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण की सर्वप्रथम माँग सुख व शान्ति है, यह कौन नहीं जानता। उसकी प्राप्ति के लिए कीड़े से मनुष्य पर्यन्त सर्व प्राणी उद्यमशील हैं। परन्तु आश्चर्य है कि सब कुछ करते हुए भी फल विपरीत निकलता है, अर्थात् सुख व शान्ति के स्थान पर व्यग्रता व अशान्तिकी असह्य अन्तर्वेदना की दाह में झुलसता हुआ वह चीत्कारों के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। इसका कुछ न कुछ कारण तो होना ही चाहिए। जिन ज्ञानीजनों की दिव्य दृष्टि ने इसका साक्षात्कार किया तथा अपनी दिव्य वाणी द्वारा हम सरीखे छद्मस्थों को उस परम परोक्ष रहस्य का परिचय देकर अनुगृहीत किया, उनके प्रति स्वाभाविक बहुमान क्यों जागृत न होगा। उन अलौकिक दिव्य पुरुषों ने अपने जीवने में किसी अद्वितीय वस्तु के दर्शन किए, जिसके साथ तन्मय होकर सम्पूर्ण विरोधी शक्तियों का मूलोच्छेदन कर, पूर्ण इन्द्रिय विजेता तथा कषाय-विजेता हो, वे परमधाम को प्राप्त हो गए। अनन्तों ऐसे हो चुके हैं और उस मार्ग का अनुसरण करके अनन्तों आगे हो जाने वाले हैं, इसमें सन्देह नहीं। क्योंकि अनेकों व्यक्तियों द्वारा किए गए एक ही प्रकार के कार्य फल कदापि भिन्न नहीं हो सकते। सर्व ही ऐसे जीव सम्पूर्ण अन्तर्शक्तियें विकसित हो जाने के कारण, सर्वज्ञ हो जाते हैं। उन सर्वज्ञों तथा अत्यन्त पवित्र आत्माओं का नाम ही 'जिनेन्द्र' है। वे प्रभु हैं और प्रत्येक मुमुक्षु के जीवनादर्श होने के कारण उपास्य हैं। जो विचित्र एवं अत्यन्त गुह्य रहस्य इस अधिकार में बताया जाने वाला है, वह उनकी सर्वज्ञता का साक्षी है, क्योंकि छद्मस्थों के लिए उसका स्पर्श असम्भव है। आओ उस रहस्य को जानकर हम भी जिनेन्द्र बन जायें।

२. वैचित्र्य अहैतुक नहीं—यद्यपि छद्मस्थ प्राणी उस रहस्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता पर अनुमान के आधार पर यह अवश्य जान सकता है कि जन्म-मरण, लाभ-हानि, धनवान-निर्धन, सुख-दुःख, स्वास्थ्य-रोग तथा मनुष्य-तिर्यंच आदि के जो भेद प्राणियों में प्रत्यक्ष हो रहे हैं, इनका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अन्यथा सबको समान होना चाहिए था। मृत्यु के पश्चात् जन्म अर्थात् पुनः शरीर धारण करना निष्कारण नहीं हो सकता।

पुनर्जन्मका विषय यद्यपि साधारणजनों के लिए विवादापन्न है, परन्तु विचारकों के लिए प्रत्यक्षवत् है, क्योंकि आज के समाचार पत्रों-वाले युगमें ऐसे अनन्तों जीते-जागते दृष्टान्तों की कमी नहीं है, जो शैशव काल में ही अपने पूर्व जीवनों का निर्णीत परिचय दे रहे हैं, तथा परीक्षा करने पर जो सत्य सिद्ध हो रहे हैं। इतना ही नहीं पशु पक्षी व कीट पतंग आदि से मरकर मनुष्यों में और मनुष्यों से मरकर पशु आदि में उत्पन्न होना भी सम्भव है। आगम तो इस बात का साक्षी है ही, परन्तु व्यक्तिगत विभिन्न तथा चित्र विचित्र संस्कारों को अथवा प्रकृतियों को विचार पूर्वक पढ़ने से भी इस तथ्य की सत्यता जानी जा सकती है। अनेक मनुष्य-शरीरधारी व्यक्ति पशु प्रकृति के दिखाई देते हैं और अनेक पशु पक्षी मनुष्यों की भाँति बौद्धिक कार्य करते देख जाते हैं।

३. मूल हेतु कर्म—अब देखना यह है कि प्राणिगत उपरोक्त वैचित्र्य का तथा पुनर्जन्म का कारण क्या है ? इसे स्वीकार न करने वाले चार्वाक, मुस्लिम व ईसाई मतों में यद्यपि इस कारण को खोजने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता, परन्तु इस तथ्य को स्वीकार करने वाले समस्त हिन्दू मतों में तथा बौद्ध मतों में इसकी खोज बराबर चालू रही है। उन-उन मतों का अनुसरण करने वाले अनेकों बुद्धिशाली ऋषियों ने इस गुह्य रहस्य को खोजने के लिए अपने जीवन बलिदान कर दिये, परन्तु उसका यथार्थ कारण जान न पाये। इतना अवश्य उन्होंने खोज निकाला कि इस सर्वका कारण 'कर्म' है। जैसा कैसा भी कर्म प्राणी करता है वैसा-वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है। योग दर्शन ने तथा उपनिषदकारों ने इस विषय को काफी समझा, परन्तु इस प्रश्न का जितना विस्तृत, विशद व तर्क पूर्ण उत्तर जैन दर्शनकारों ने दिया, उतना कोई भी न दे सका।

अत्यन्त विशद तथा व्यापक दृष्टि के विषयभूत अत्यन्त गुप्त इस रहस्य से अनभिज्ञ अनेकों दार्शनिक खोज करने पर भी जब इस प्रश्न का कोई तर्क पूर्ण उत्तर न दे सके, तो आखिर किसी एक दिव्य ईश्वरीय शक्ति के चरणों में अपने विकल्पों को लीन कर देने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा उनके लिये शेष नहीं रह गया और उन्होंने यह कहकर सन्तोष कर लिया कि जीवों को उन उनके कर्मों के अनुसार सुख-दुःख देने वाला ईश्वर है। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है परन्तु उसका फल भोगने में ईश्वर के आधीन है। परन्तु वस्तु की गहनता को स्पर्श करने वाली वैज्ञानिक-सूक्ष्म दृष्टि वस्तु-स्वभाव का इस प्रकार गला घोंटा जाना कैसे स्वीकार कर सकती थी।

अतः वैज्ञानिक दृष्टि कोण को धारण करने वाले जैन दर्शन को इस प्रकार की फल दाता ईश्वरीय शक्ति स्वीकार न हो सकी। उसे यह सब कुछ व्यवस्था वस्तु के स्वभाव में ही दिखाई दे रही है। किसी एक व्यक्ति-विशेष के आधीन ऐसी निर्बाध व अभंग व्यवस्था चल सके, ऐसा उसे सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने पर अनेकों शंकायें सामने आकर खड़ी हो जाती हैं। यथा—

४. ईश्वर-कर्तृत्व निषेध—यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ईश्वर नाम का वह व्यक्ति अशरीरी, सर्वज्ञ, शुद्ध व सर्वव्यापी स्वीकार किया गया है। ये सर्व ही विशेषण उपरोक्त स्वीकृति के साथ विरोध को प्राप्त होते हैं। १. शरीर रहित वह शरीरधारियों को विघ्न बाधा या सहायता कैसे पहुँचा सकता है ? स्थूल शरीरधारियों को दण्ड आदि देने के लिए स्थूल शरीर की ही आवश्यकता होती है, पर ऐसा कोई ईश्वर दिखाई देता नहीं है। दिव्य सूक्ष्म शरीर के द्वारा अव्वल तो यह सब कुछ किया जाना सम्भव नहीं है, और यदि जिस किस प्रकार मान भी लें तो, एक ही शरीर से सारे विश्व में युगपत् चित्र विचित्र अनेक कार्य किये जाने कैसे सम्भव हो सकते हैं ? २. सर्वज्ञता तो केवल जानन रूप होती है करने रूप नहीं। वह जीवों को सुख-दु:ख देने में कैसे समर्थ हो सकती है, क्योंकि क्या सर्व पदार्थों को देखने वाली नेत्र-इन्द्रिय उनको कोई बाधा भी पहुँचा सकती है ? दूसरी बात यह भी है कि वीतरागता के बिना सर्वज्ञता होनी असम्भव है, क्योंकि इच्छावान् अथवा रागी संसारी जीवों में वह देखी नहीं जाती। वीतराग व्यक्ति के द्वारा यह सब कुछ चित्र विचित्र खेल खेलते रहना कहाँ की युक्ति है, क्योंकि वीतराग ज्ञाता दृष्टा हुआ करते हैं कर्ता हर्ता नहीं। ३. उनकी इच्छा मात्र से अथवा लीला मात्र से यह सब कुछ होना भी गले नहीं उतरता, क्योंकि एक तो अमूर्तीक दूसरे इच्छा-शून्य। यदि मिस्मरेजम की अथवा हिप्नोटिजम की भाँति ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाए तो उसकी वीतरागता सुरक्षित रह नहीं सकती, क्योंकि इच्छा व वीतरागता में विरोध है। ४. सर्वव्यापी किसी व्यक्ति-विशेष के लिए कोई भी कार्य करना असम्भव है, क्योंकि क्रिया करने के लिए हिलने-डुलने की आवश्यकता है, परन्तु सर्वव्यापी कोई भी वस्तु हिल-डुल नहीं सकती, जैसे आकाश।

दूसरी बात यह भी है कि इतना बड़ा कार्य करने के लिए, सर्वलोक में यत्र-तत्र फैले हुए छोटे बड़े प्राणियों के समय-समय के कृत्यों का तथा उन उनके योग्य दण्ड आदि का हिसाब पेटा रखने के लिए, और इस व्यवस्था को कार्यान्वित रूप देने के लिए, राज्य व्यवस्था की भाँति उसे एक लम्बे चौड़े दफ्तर, रजिस्टर, मुनीम, गुमाश्तों की अथवा सैनिकों आदि की आवश्यकता पड़ेगी। वीतरागी व्यक्ति को इस सब प्रपञ्च में पड़ने की आवश्यकता ही क्या है और ऐसा करे तो वह वीतराग विशेषण ही कैसे प्राप्त कर सकता है ? वह तो हमसे भी अधिक घोर संसारी हो जायेगा। लोक के जीवों द्वारा ही परस्पर एक दूसरे को सुख-दु:ख मिलता हो सो बात भी युक्त नहीं जँचती, क्योंकि ऐसी अवस्था में उसकी आज्ञा से किसी की हत्या करने वाला या झूठ बोलने वाला व्यक्ति अपराधी कैसे ठहरेगा ? अपराध के अभाव में सुख-दु:ख कैसा ?

तीसरी बाधा यह भी है कि ईश्वर एक तथा शुद्ध माना गया है, साथ-साथ कोई हाथ-पैर वाला व्यक्ति न मानकर तत्त्व रूप माना गया है। एक तथा शुद्ध तत्त्व अनेक दृष्ट, अशुद्ध, चित्र-विचित्र तथा परस्पर विरोधी कार्य कैसे कर सकता है, जैसे कि एक ही समय में गमन व स्थिति, सुख व दु:ख, ज्ञान व अज्ञान, राग व विराग आदि। निमित्त रूप से यदि कुछ कर सकता हो तो भी एक समय में इनमें से कोई एक ही कार्य कर सकता है, सकल कार्य नहीं। इत्यादि अनेकों बातें किसी चेतन-तत्त्व को नियन्ता मानने में बाधक हैं।

यदि जनसाधारण का चित्त-समाधान करने मात्र के लिये ऐसी स्थूल उक्ति है, तात्त्विक तथा सैद्धान्तिक नहीं है, तब कोई हानि नहीं है। अत: जीवों को सुख दु:ख आदि रूप फलदान की कारणभूता कोई एक स्वाभाविक व्यवस्था होनी चाहिए, जो बिना किसी अन्य नियन्ता के स्वत: निर्बाध चलती रह सके। फिर उसको आप स्वभाव कहो, या काल कहो, या ईश्वर कहो या नियति कहो, या काल लब्धि कहो, या भवितव्य कहो, या दैव प्रारब्ध अथवा कर्म कहो। जैन दर्शनकार इसे 'कर्म' नाम देते हैं।

❑

ॐ

हे मन् ! तू इस दृष्ट जगत की ओर क्यों लखाता है ? क्या रखा है यहाँ ? सब कुछ 'अनित्य' है। अब है और अगले क्षण नहीं। क्या भरोसा है इसका ? किसी की भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, किन्हीं सत्ताओं की उत्पन्नध्वंसी अवस्थायें ही तो हैं, सागर की तरंगोवत्। उनकी ये चंचल अवस्थायें भी तो विद्यमान नहीं हैं, इस समय तेरे समक्ष। तेरे समक्ष तो विद्यमान है मात्र तेरे असत् विकल्प, जिनको तू स्वयं बना-बनाकर मिटाये जा रहा है और स्वयं ही उनमें रुले जा रहा है। सम्भल, अपने घर में स्वयं ही आग न लगा, अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर अथवा इसे व्यर्थ न गँवा। महान् कार्य की सिद्धि करनी है तुझे इससे, शांति-प्राप्ति की।

२. वस्तु स्वभाव

१. करणानुयोग, २. वस्तु-स्वभाव, ३. वस्तु विभाग,
४. स्वचतुष्टय, ५. द्रव्य व भाव, ६. पर्याय।

पहले अधिकार में यह बताया जा चुका है कि जीवों में दृष्टिगत सुख दुःख व पुनर्जन्म आदि निष्कारण नहीं हो सकते इनका कारण उस-उस जीव का अपना कर्म है, जिसके अनुसार तथा जिसके फलस्वरूप ही उसको इन चित्र विचित्र अवस्थाओं में रहना पड़ता है। कर्मानुसार फलदान की व्यवस्था सहज तथा स्वाभाविक होनी चाहिये, ईश्वरकृत नहीं।

१. करणानुयोग—कर्म सम्बन्धी इस विषय की तर्क पूर्ण गवेषणा करने का श्रेय मात्र जैन दर्शन को प्राप्त है। जैन वाङ्मय के चार मुख्य खण्डों या अनुयोगों में कर्म-सिद्धान्त विषयक एक पृथक् अनुयोग है, जो करणानुयोग के नाम से प्रसिद्ध है, और जिसका बहुत लम्बा चौड़ा विस्तार है। षट्खण्डागम, कषायपाहुड, महाबन्ध, पंचसंग्रह, गोमट्टसार, लब्धिसार, क्षपणसार आदि बड़ी-बड़ी तथा महान मूलकृतियें इसमें सम्मिलित हैं। उपरोक्त साहित्य पचासों पुस्तकों में विभक्त है, जिनके दर्शन भी दुर्लभ हैं। इस पर से इस महान सिद्धान्त विषयक जैन दर्शन की विस्तृत गवेषणा का अनुमान लगाया जा सकता है।

इस अनुयोग में क्योंकि स्थल-स्थल पर उच्च श्रेणी के गणित का प्रयोग किया गया है इसलिये इसको करणानुयोग कहते हैं। लोक अलोक का स्वरूप, संसार की चारों गतियों का तथा उनमें परिभ्रमण करने वाले जीवों का स्वरूप, काल चक्र के वर्तन का स्वरूप और इसी प्रकार के अन्यान्य अनेकों विषयों का यह संग्रह है। जीव के स्थूल व सूक्ष्म शुभाशुभ भावों का तथा नित्य प्रवाहशील चित्र-विचित्र मानसिक परिणामों का भी इसमें बड़ा स्पष्ट तथा सुन्दर ज्ञान कराया गया है, जिसको जाने बिना उनसे अपनी रक्षा करना तथा संसार से मुक्त होने के मार्ग का अनुसरण करना असम्भव है। इसलिये भी इसको 'करणानुयोग' कहते हैं क्योंकि 'करण' नाम जीव के परिणाम का है।

२. वस्तु-स्वभाव—कर्म-सिद्धान्त का परिचय पाने से पहले हमें संक्षेप में वस्तु स्वभाव का संक्षिप्त सा अध्ययन कर लेना चाहिये। वस्तु में बनते तथा बिगड़ते हुए जो ये अनेकों आकृतियें तथा भाव नित्य प्रकट हो रहे हैं, इन सबका कारण जाने बिना प्रकृत विषय स्पष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि वस्तु-व्यवस्था का यह विषय स्वतन्त्र रूप से अपना विस्तार रखता है, और 'पदार्थ विज्ञान' नाम की पुस्तक में इसका विशद वर्णन किया भी गया है, तथापि यहाँ संक्षेप में परिचय पाना आवश्यक है। वस्तु की

दृष्ट कार्य-व्यवस्था के दो प्रमुख कारण हैं, अन्तरंग व बाह्य। अन्तरंग कारण 'उपादान' और बाह्य कारण 'निमित्त' कहलाता है। वस्तु का स्वभाव उपादान है और उसके साथ अन्य उचित वस्तुओं का संयोग निमित्त कहलाता है। इन दोनों में पहले वस्तु-स्वभाव या उपादान को पढ़िये, निमित्त की बात पीछे।

अनेकों चित्र-विचित्र कार्यों को प्राप्त प्रकृत-वस्तु अवश्य ही सदात्मक होनी चाहिये, क्योंकि असत् पदार्थ खग-विषाण वत् व्यवहार का विषय नहीं बन सकता। यह वस्तु का एक स्वभाव हुआ, जिसे आगमकार **'अस्तित्व गुण'** के नाम से कहते हैं। सत्स्वरूप होते हुए भी वह उसी समय प्रतीति में आ सकती है, जब कि स्वस्वरूप से प्रकाशित होते हुए भी अपने से अतिरिक्त अन्य पदार्थों के स्वरूप का त्याग कर दे, अन्यथा संकर व्यतिकर दोष की आपत्ति होगी। 'घट' पदार्थ पट और 'पट' पदार्थ घट के रूप में जाना जायेगा, और सत-सामान्य का भान होते हुए भी सत् विशेष का या वस्तु-विशेष का निर्णय न हो सकेगा। अपने-अपने पृथक्-पृथक् प्रयोजनभूत कार्य से ही एक वस्तु दूसरी से विलक्षण प्रतीत होती है। इसे ही आगमकार **'वस्तुत्व गुण'** कहते हैं। इतना ही नहीं, उस वस्तु को नित्य परिणमन या परिवर्तन-शील होना चाहिये कूटस्थ नहीं, प्रवाहित होना चाहिये स्थिर नहीं, अन्यथा उसमें किसी भी नवीन कार्य की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी। निज शक्ति के अभाव में दूसरी कोई वस्तु भी उसमें क्या कार्य उत्पन्न करेगी ? वस्तु की इस शक्ति को आगम में **'द्रव्यत्व गुण'** कहा गया है। अपने स्वरूप को अन्य पदार्थ से विलक्षण प्रकाशित करती हुई परिणमनशील भी वह वस्तु अवश्य किसी न किसी आकार वाली होनी चाहिये, भले ही वह आकृति सूक्ष्म हो या स्थूल, क्योंकि आकृति-शून्य वस्तु कल्पना मात्र है, जैसे फ़ारिस में 'हुमा' नामक पक्षी। वस्तु के इस स्वभाव को **'प्रदेशत्व गुण'** के नाम से कहा गया है। यदि वस्तु कल्पना मात्र नहीं है तो अवश्य किसी न किसी के परिचय में आई हुई होनी चाहिये। 'कुछ है तो सही परन्तु उसे कोई भी जान नहीं सकता' ऐसा कहना प्रलाप मात्र है। वस्तु के इस स्वभाव को **'प्रमेयत्व गुण'** कहते हैं। परिणमनशील तथा सत्ताभूत उस वस्तु को अपनी सीमा में रहकर परिवर्तन करते हुए भी अन्य पदार्थ रूप से परिवर्तन नहीं कर लेना चाहिये, अन्यथा 'घट' पट बन बैठेगा और 'पट' घट। इस प्रकार कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी, वस्तु का निर्णय करने के लिये कोई भी मार्ग नहीं बन सकेगा। भले ही ताम्बे व सोने की भाँति पदार्थ परस्पर में घुल मिलकर एक हो जायें पर स्वरूप से वे अवश्य पृथक्-पृथक् रहने चाहिएं, ताकि किसी भी उपाय से जब चाहें उन्हें पृथक् कर सकें। इसी प्रकार कोई भी वस्तु अपने गुण को छोड़कर अन्य वस्तु के गुण को धारण नहीं कर सकती। परिणमन करते हुए भी तथा घुलमिल कर एक हो जाने पर भी वह सदा अपने ही गुण में अवस्थित रहती है। उसके गुण हीन या अधिक भी नहीं हो जाते। इस स्वभाव को **'अगुरु-लघु गुण'** कहा गया है,

जिसके कारण हर परिस्थिति में वस्तु अपने स्वरूप को सुरक्षित रखती है क्योंकि स्वभाव स्वत: सिद्ध तथा पर-कर्तृत्व से निरपेक्ष होता है ।

इन सर्व सामान्य-गुणों के समुदाय रूप वस्तु का स्वभाव स्वयं सत्, नित्य तथा अनादि है अर्थात् किसी के द्वारा भी बनाया या बिगाड़ा नहीं जा सकता । हम या तुम या कोई भी अन्य निमित्त उस सद्भूत वस्तु के स्थूल परिवर्तन में यद्यपि सहायक हो सकता है, पर उसके स्वरूप को बदल देना अथवा कोई अभूतपूर्व नई वस्तु गढ़ कर खड़ी कर देना सम्भव नहीं है, और न ही किसी भी मौलिक वस्तु का बीज-नाश किया जाना ही सम्भव है । असत् की उत्पत्ति तथा सत् का विनाश तीन काल में भी किसी के द्वारा सम्भव नहीं । कोई ईश्वर या दिव्य शक्ति भी ऐसा करने को समर्थ नहीं ।

३. वस्तु विभाग—इस वस्तु-सामान्य को जड़ तथा चेतन रूप दो जातियों में विभाजित किया जा सकता है । जड़ वस्तु यद्यपि पाँच प्रकार की है, परन्तु प्रकृत विषय में जिसका ग्रहण है वह रूप, रस, गन्ध युक्त तथा सर्व परिचित यही मूर्तीक वस्तु है, जिससे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का अथवा चित्र विचित्र शरीरों का अथवा घट पट आदि भौतिक पदार्थों का निर्माण होता है । इसे आगम में 'पुद्गल' नाम दिया गया है । चेतन वस्तु को कहीं 'आत्मा' और कहीं 'जीव' कह दिया जाता है । अकेले चेतन को आत्मा और शरीर सहित को जीव कहते हैं । यह कहने मात्र की विवक्षा है, वास्तव में इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है । आत्मा या जीव एक अमूर्तिक तथा असंयुक्त वस्तु है, हवा मात्र या कल्पना मात्र नहीं । इन्द्रियों से देखी नहीं जाती पर सत्ता से शून्य नहीं है । इन्द्रिय-गोचर ही वस्तु हो ऐसा कोई नियम नहीं है । पुद्गल व जीव दोनों यद्यिपि एक दूसरे से विलक्षण हैं परन्तु उपरोक्त छहों सामान्य गुणों से युक्त हैं ।

दोनों ही सत् हैं और इसलिए अनादि-निधन हैं । इनको न किसी ने बनाया है और न कभी इनका नाश हो सकता है । इनकी गणना में भी हानि-वृद्धि सम्भव नहीं । जीव की जो मृत्यु होती देखी जाती है वह उसका नाश नहीं है, परिवर्तन मात्र है । एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना मात्र है । इसकी सत्ता में भी किसी ईश्वरीय शक्ति का हाथ नहीं है । दोनों ही द्रव्यत्व गुण-युक्त होने से परिणमन स्वभावी हैं, कूटस्थ नहीं । अगुरुलघु गुण के कारण दोनों ही परिणमन करते रहने पर भी अपने-अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते । भले ही परस्पर के संयोग से दोनों घुल-मिल जायें पर अपने-अपने स्वरूप में अवस्थित रहते हैं, अपनी जाति का उल्लंघन नहीं करते । दोनों ही परस्पर मिलते व बिछुड़ते रहते हैं । जाति की अपेक्षा एक-एक हैं, पर व्यक्तियों की अपेक्षा अनन्त-अनन्त हैं ।

४. स्वचतुष्टय—अस्तित्व आदि छह सामान्य गुणों वाली वस्तु का स्वरूप जान लेने के पश्चात् यह भी जानना आवश्यक है कि यद्यपि वस्तु अखण्ड है तदपि अपेक्षावश उसमें तीन प्रकार के विशेष देखे जा सकते हैं—क्षेत्रात्मक, कालात्मक व

भावात्मक। प्रत्येक वस्तु की हीन या अधिक कुछ न कुछ लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई अर्थात् आकृति अवश्य होती है। परमाणु यद्यपि अविभागी है पर उसकी भी कोई न कोई आकृति अवश्य है, अन्यथा उसके कार्यभूत स्थूल पदार्थों में लम्बाई आदि कहाँ से आती। वस्तु के आकृति-सापेक्ष इस विशेष को उसका **स्वक्षेत्र** कहते हैं। परमाणु का क्षेत्र सबसे छोटा होता है, क्योंकि इसे तोड़कर और छोटा किया जाना सम्भव नहीं है। एक परमाणु-प्रमाण आकाश के क्षेत्र का नाम **'प्रदेश'** है। जैसा कि आगे बताया जायेगा जीव इस प्रकार मापा जाने पर असंख्यात प्रदेशी है।

यद्यपि वस्तु अपने स्वरूप में सदा अवस्थित रहती है अर्थात् कभी कोई परिवर्तन नहीं करती परन्तु नित्य परिणमन करते रहने के कारण उसकी अवस्थायें सदा बदलती रहती हैं। अर्थात् वह नित्य होते हुए भी अनित्य है। अस्तित्व गुण के कारण नित्य और द्रव्यत्व गुण के कारण अनित्य। इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बालक से बूढ़ा होकर भी वह व्यक्ति वही रहता है अन्य नहीं हो जाता, इसी प्रकार प्रतिक्षण रूपान्तरों को प्राप्त होती हुई भी वस्तु वही रहती है अन्य नहीं हो जाती। परिवर्तनगत वस्तु में आगे पीछे प्रकट होकर उसी में लय हो जाने वाले उसके ये रूप या अवस्थायें उसका कालकृत विशेष होने से, उसका **'स्वकाल'** कहलाता है। काल का वह छोटे से छोटा खण्ड जिसका कि आगे खण्ड न किया जा सके 'समय' कहलाता है। जिस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा अविभागी होने से 'प्रदेश' क्षेत्रात्मक यूनिट है, उसी प्रकार काल की अपेक्षा अविभागी होने से 'समय' कालात्मक यूनिट है। यह इतना सूक्ष्म होता है कि एक सेकेण्ड में असंख्यात समय हो सकते हैं।

वस्तु का तीसरा विशेष उसका 'भाव' है। भाव नाम उस वस्तु के गुण या स्वभाव का है, जैसे ज्ञान-स्वभावी होने से जीव के सकल भाव ज्ञानात्मक ही होते हैं, और रसस्वरूप होने के कारण पुद्गल के सकल भाव रसात्मक होते हैं। 'भाव' वस्तु के बड़े या छोटे सम्पूर्ण क्षेत्र या प्रदेशों में व्यापकर रहता है। क्षेत्र तथा काल के यूनिट की भाँति इसका यूनिट एक 'अविभाग-प्रतिच्छेद' कहलाता है, जो भाव की शक्ति का लघुतम भाग है।

अखण्ड वस्तु-सामान्य तो 'द्रव्य' कहलाती है, और ये तीन उसके स्व-विशेष कहे गए हैं। उसकी प्रदेशात्मक आकृति उसका **'स्वक्षेत्र'** है, उसकी परिवर्तनशील अवस्थायें उसका **'स्व-काल'** है, और उसके लक्षणभूत गुण उसके **'स्व-भाव'** कहलाते हैं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव ये चार वस्तु के स्वचतुष्टय माने गए हैं। वस्तु के अपने अंश होने से 'स्व' तथा चार हाने से 'चतुष्टय' हैं। द्रव्य सामान्य है और शेष तीन उसके विशेष, क्षेत्र सामान्य है और प्रदेश उसका विशेष, काल सामान्य है और समय उसका विशेष, भाव सामान्य है और अविभाग-प्रतिच्छेद उसका विशेष। इस प्रकार वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। विशेष रहित सामान्य और सामान्य रहित विशेष प्रलाप मात्र है।

५. द्रव्य व भाव—यद्यपि उपरोक्त चतुष्टय अपनी-अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखते, परन्तु वस्तु में चारों बातें युगपत् देखी अवश्य जाती हैं। इन चार बातों में से भी द्रव्य तथा भाव प्रधान हैं, क्योंकि द्रव्य में आकृति की प्रधानता होने से वह क्षेत्रात्मक है और भाव में परिणमन की प्रधानता होने से वह कालात्मक है। या यों कह लीजिए कि 'क्षेत्र' द्रव्य का विशेष होने से द्रव्य में और 'काल' भाव का विशेष होने से भाव में गर्भित हो जाता है। क्षेत्र या आकृति द्रव्य का बाह्य रूप है और भाव व काल उसका अन्तरंग रूप है। द्रव्य या क्षेत्र की भाँति भाव व काल का सम्बन्ध आकाश-क्षेत्र से या आकृति से नहीं है, क्योंकि भाव रसात्मक होता है, उसमें स्थान की कल्पना को अवकाश नहीं। भाव अनुभव किये जा सकते हैं परन्तु आकृति की भाँति मापे नहीं जा सकते। आम का भाव तो खट्टा मीठा रस तथा उसका भीतरी सूक्ष्म परिणमन है और द्रव्य उसका बाहरी आकार है। बड़ा आम खट्टा और छोटा आम मीठा हो सकता है। कृशकाय व्यक्ति ज्ञानी और स्थूल-काय अज्ञानी हो सकता है, अथवा इससे विपरीत भी। तात्पर्य यह है कि वस्तु के ये दोनों अंग स्वतन्त्र हैं। द्रव्यात्मक आकृतिका या क्षेत्र की हानि-वृद्धि का भाव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः वस्तु को समझने के लिये उसके द्रव्यात्मक व भावात्मक दोनों रूपों को ध्यान में रखना चाहिए। एक के बिना दूसरा रहता नहीं यह ठीक है, परन्तु एक के आधीन दूसरा हो ऐसा नहीं है।

द्रव्य व भाव का उपरोक्त विभाग एक ही वस्तु को दृष्टि में लेकर किया गया है। अब पुद्गल तथा जीव इन दो द्रव्यों को दृष्टि में लेकर विभाग करते हैं, क्योंकि प्रकृत विषय से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। यद्यपि सामान्य रूप से देखने पर दोनों पदार्थ द्रव्य व भाव उभय रूप हैं, क्योंकि दोनों में ही उभय अंश विद्यमान हैं। जिसके प्रदेश परस्पर में मिलने बिछुड़ने के लिए समर्थ हों और इसलिए जो बनाया तथा बिगाड़ा जा सकता हो, जो स्थूल प्रदेशात्मक कार्य कर सके, उठाया धरा जा सके, जोड़ा तोड़ा जा सके, वही लोक में 'द्रव्य' नाम से प्रसिद्ध होता है। ऐसा पदार्थ पुद्गल ही हो सकता है, क्योंकि इसमें ही स्कन्ध बनने की तथा टूटने की शक्ति है। इसमें यद्यपि भाव या गुण भी हैं, परन्तु लोक में क्रोध, प्रेम, सन्तोष, स्वार्थ आदि ज्ञानात्मक भावों को ही भाव कहा जाता है, रूप, रस आदि को नहीं। इसीलए पुद्गल में द्रव्यपना ही प्रधान है भावपना गौण। अतः इन दोनों में पुद्गल को द्रव्यात्मक पदार्थ माना गया है।

जीव पदार्थ भी यद्यपि अनेक-प्रदेशी हैं और उनमें संकोच विस्तार भी होता है पर वे मिल बिछुड़ नहीं सकते, न ही जीव पदार्थ में लेने देने का, उठाने धरने का तथा बनाने बिगाड़ने का व्यवहार संभव है। उसका व्यवहार लोक में प्रदेश या क्षेत्र-प्रधान नहीं होता बल्कि क्रोधादि ज्ञानात्मक भावों के आश्रित होता है। अनुभव में भी वह

भावरूपेण ही आता है द्रव्य या क्षेत्र-रूपेण नहीं। इसलिए जीव भावात्मक पदार्थ माना गया है। आगे कर्म का प्रकरण चलने पर द्रव्य-कर्म व भाव-कर्मका कथन आएगा, वहाँ पुद्गलात्मक कर्म-का नाम द्रव्य-कर्म और जीवात्मक क्रोधादि भावों का नाम भाव-कर्म समझना चाहिए। यह बताने के लिए ही यह विभाग किया गया है।

६. **पर्याय**—वस्तु के द्रव्यात्मक व भावात्मक इन दोनों ही विभागों में कोई न कोई परिवर्तन स्वभाव से ही होता रहता है, यह बात पहिले द्रव्यत्वगुण की स्थापना करते हुए बताई जा चुकी है। इस परिवर्तन का अर्थ इतना ही है कि प्रतिक्षण उसमें नई अवस्था प्रकट होती रहती है और पुरानी अवस्था उसी में विलीन होती जाती है। उत्पन्न-ध्वंसी इन अवस्थाओं को वस्तु की 'पर्याय' कहते हैं। पर्याय बदलते रहते भी वस्तु वह की वह बनी रहती है, जैसे कि बालक से बूढ़ा हो जाने पर भी व्यक्ति वह का वह ही रहता है। जड़ से चेतन या चेतन से जड़ नहीं हो जाती जैसे कि बूढ़ा हो जाने पर वह देवदत्त से यज्ञदत्त नहीं हो जाता। जिसमें 'यह वही है' ऐसी प्रतीति होती है ऐसे स्थायी अंश को द्रव्य, और 'यह अब वह नहीं है' ऐसी परिवर्तनशील अवस्थावाले अंश को पर्याय कहते हैं।

पर्याय दो प्रकार की होती है—द्रव्यात्मक और भावात्मक। उपरोक्त प्रकरण को ध्यान में रखकर विचार करें तो द्रव्यात्मक पर्याय क्षेत्रात्मक अर्थात् प्रदेश-सापेक्ष होती है, जब कि भावात्मक पर्याय गुण-सापेक्ष होती है। इसीलिये भाव-पर्याय को कहीं गुण-पर्याय भी कहा गया है। द्रव्य-पर्याय आकृति-सापेक्ष होने से व्यक्त होती है, इसलिये उसे व्यञ्जन-पर्याय कहते हैं, परन्तु भाव-पर्याय भीतरी परिणमन मात्र होने से अर्थ-पर्याय कहलाती है। अतः द्रव्य-पर्याय तथा व्यंजन-पर्याय एकार्थक हैं और भाव-पर्याय, गुण-पर्याय तथा अर्थ-पर्याय एकार्थक हैं। द्रव्य या व्यञ्जन-पर्याय बाह्य होने से स्थूल और भाव या अर्थ-पर्याय अन्तरंग होने से सूक्ष्म होती हैं। आकार परिवर्तन बहुत काल पश्चात् प्रतीति में आने से द्रव्य-पर्याय चिरकाल-स्थायी और भावों का परिवर्तन क्षण-क्षण प्रति प्रतीति में आने से भाव-पर्याय अल्पकाल-स्थायी होती हैं।

हिलन डुलन रूप होने से द्रव्य-पर्याय का नाम 'क्रिया' ओर परिणमन रूप होने से अर्थ-पर्याय का नाम 'परिणमन' है। क्रिया तथा परिणमन दोनों ही दो-दो प्रकार के होते हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। स्थूल-क्रिया पूरे द्रव्य का गमनागमन तथा हिलन डुलन है, और सूक्ष्म-क्रिया उसके भीतरी प्रदेशों का गमनागमन तथा हिलन डुलन है। पहिली क्रिया को गति कहते हैं और दूसरी को परिस्पन्दन। गति बाहर में दिखाई देती है परन्तु परिस्पन्दन द्रव्य के प्रदेशों में भीतर ही भीतर होता है।

गतिरूप स्थूल-क्रिया अनेक पदार्थों के संयोग वियोग में कारण है, क्योंकि बिना गमनागमन के वह असम्भव है। परिस्पन्दन रूप सूक्ष्म-क्रिया द्रव्यों की आकृति

में या संस्थान बनाने में कारण है, क्योंकि परमाणुओं के मिले बिछुड़े बिना अथवा प्रदेशों का संकोच विस्तार हुए बिना आकृतियों का निर्माण असम्भव है। पुद्गल की परिस्पन्दन-रूप सूक्ष्म-क्रिया स्कन्धों में स्थित परमाणुओं में होती है, अर्थात् उनका परस्पर एक दूसरे के भीतर अनुप्रवेश करना तथा बाहर निकलना ही पुद्गल स्कन्धों में नित्य चलने वाला परिस्पन्दन है। इसी प्रकार जीव की परिस्पन्दन रूप सूक्ष्म-क्रिया उसमें स्थित प्रदेशों में होती है, अर्थात् उनका परस्पर एक दूसरे के भीतर अनुप्रवेश करना तथा बाहर निकलना ही जीवों में नित्य चलने वाला परिस्पन्दन है। इसी को जीव-प्रदेशों का सुकड़ना फैलना अथवा संकोच विस्तार करना कहते हैं, क्योंकि प्रदेशों के एक दूसरे में घुसे बिना संकोच और बाहर निकले बिना विस्तार संभव नहीं। पुद्गल स्कन्धों में तथा जीव में अपना-अपना यह परिस्पन्दन भीतर ही भीतर सूक्ष्म रूप से प्रतिक्षण होता रहता है, परन्तु बाह्य में बहुत काल पश्चात् वह केवल उस समय प्रतीति में आता है जबकि इनकी आकृति में कुछ स्थूल परिवर्तन हो चुकता है।

पुद्गल में क्योंकि परमाणु पृथक्-पृथक् रहते हुए परस्पर में मिले रहते हैं, इसलिये वहाँ परिस्पन्दन का होना समझ में आ जाता है, परन्तु एक अखण्ड जीव द्रव्य में वह समझ नहीं आता, क्योंकि उसके प्रदेश पुद्गल के परमाणुओं की भाँति पृथक् नहीं हैं। यद्यपि कठिन है, पर तनिक विचार करने पर जिस किसी प्रकार उसे भी समझा अवश्य जा सकता है। शरीर के किसी अंग-विशेष में पीड़ा होने पर या सर दर्द होने पर अन्दर ही अन्दर जो लहरें सी उठती तथा दौड़ती प्रतीत होती हैं, किसी पत्थर पर खुरदरी वस्तु से खुचर-खुचर करने पर उसका शब्द सुनने मात्र से हृदय स्थल में जो तीखी लहर उठती प्रतीत होती है, सहसा ही डर जाने पर सर्वाङ्ग में जो सनसनी सी फैल जाती है, झूले पर झूलने से या अपने पाँव पर ही घुमेर खाने से जो अन्दर तथा बाहर सब कुछ घूमता प्रतीत होता है—उस परसे जीव का प्रदेश-परिस्पन्दन स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। जीव के इस प्रदेश-परिस्पन्दन को 'योग' नाम दिया गया है, जो मन, वचन व काय के निमित्त से तीन प्रकार का हो जाता है। वैशेषिक दर्शन-मान्य 'प्रयत्न' नामक गुणके साथ इसकी तुलना की जा सकती है।

क्रिया रूप द्रव्य-पर्याय का परिचय दे दिया गया, अब परिणाम रूप भाव-पर्याय का संक्षिप्त कथन करता हूँ। क्रिया की भाँति परिणाम भी दो प्रकार का है स्थूल तथा सूक्ष्म। पुद्गल में खट्टा मीठापना और जीव में क्रोधादि भाव स्थूल परिणाम हैं और उनमें प्रतिक्षण होने वाली हानि-वृद्धि सूक्ष्म परिणमन है। वर्ष भर में ज्ञान का काफी विकास हो जाने पर ही वह बढ़ा हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वह प्रति क्षण बढ़ता हुआ ही एक वर्ष पश्चात् इस दशा को प्राप्त हुआ है। जिस प्रकार घण्टे भर में पकने वाले भात का पूर्ण पाक वास्तव में उसके क्षणिक पाकांशों के संग्रहका फल है, उसी प्रकार व्यक्त रूप से प्रतीति में आने वाले स्थूल क्रोधादि भाव भी वास्तव

में हानि वृद्धि गत क्षणिक अविभाग-प्रतिच्छेदों के संग्रह के फल हैं। भाव या अर्थ पर्याय में सर्वत्र इसी प्रकार जानना। यद्यपि अशुद्ध तथा संयोगी द्रव्यों में दोनों ही प्रकार के परिणाम देखे जाते हैं, तदपि असंयुक्त तथा शुद्ध द्रव्यों में केवल सूक्ष्म ही परिणमन होता है स्थूल नहीं।

यह सूक्ष्म परिणमन भी दो प्रकार का है—सदृश्य तथा विसदृश्य। वस्तु का आकार प्रकार न बदले और अन्दर ही अन्दर सूक्ष्म परिणमन चलता रहे उसे सदृश्य परिणमन कहते हैं, जैस समान स्तर वाली छोटी तरंगों के सद्भाव में सागर का ऊपरी स्तर समतल दिखाई देता है, अथवा अन्दर में सूक्ष्म धधकन के रहते हुए भी निर्वात दीप-शिखा स्थिर दिखाई देती है। आकार प्रकार बदल जायें ऐसा परिणमन विसदृश्य होता है, जैसे कि ऊँची नीची तथा बड़ी छोटी विषम तरंगों के उदित होने पर सागर का ऊपरी स्तर भी कहीं से ऊँचा और कहीं से नीचा दिखाई देता है, अथवा वायु से प्रेरित दीप-शिखा कभी छोटी कभी मोटी, कभी ऊँची कभी नीची दिखाई देती है। शुद्ध द्रव्यों में सदृश ही परिणमन होता है और अशुद्ध द्रव्यों में विसदृश ही। इसीलिये परिणमन करते रहने पर भी शुद्ध द्रव्यों का आकार प्रकार ज्यों का त्यों बना रहता है। ये दोनों प्रकार के परिवर्तन क्षेत्र तथा भाव दोनों में होते हैं।

❑

सर्वसमभावी धर्म
स्वानुभूति रसमर्म
निर्द्वन्दो मनो विश्रान्ति
चन्दासम शीतल शान्ति।

३. पुद्गल परिचय

१. पुद्गल, २. पुद्गल बन्ध, ३. जाति भेद, ४. शरीर।

१. पुद्गल—जीवों की विषमता का मूल कारण कर्म है जिसकी व्यवस्था परिणमनशील वस्तु-स्वभाव के आधीन है, इतना जान लेने के पश्चात् अब यहाँ पुद्गल नाम वाले जड़ पदार्थ का कुछ परिचय दे देना आवश्यक है, क्योंकि प्रकृत विषय से उसका बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। पुद्गल को यद्यपि इन्द्रिय-गोचर बताया गया है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-ग्राह्य ये सर्व जागतिक पदार्थ मूलभूत पुद्गल नहीं हैं, बल्कि उसकी संयोगी अथवा स्थूल-द्रव्य या व्यञ्जन पर्यायें हैं, जिन्हें स्कन्ध कहते हैं। मूलभूत पदार्थ परमाणु है। किसी भी दृष्ट पदार्थ को कल्पना द्वारा तोड़ते-तोड़ते जब अन्तका वह भाग प्राप्त हो जाये जिसको आगे तोड़ा जाना सम्भव न हो सके, उसे परमाणु कहते हैं। यह एक प्रदेशी होता है अर्थात् सबसे छोटा होता है। आजके विज्ञान द्वारा स्वीकृत अणु भी, जो वास्तव में परमाणु नहीं स्कन्ध है, जब इतना सूक्ष्म होता है कि यन्त्र के बिना देखा न जा सके तो परमाणु की तो बात ही क्या।

अपनी सूक्ष्मता के कारण, एक आकाश प्रदेश पर अनन्तों परमाणु एक दूसरे में समाकर निर्बाध रूप से रह सकते हैं और लोकाकाश में एक-एक प्रदेश पर इसी प्रकार रह रहे हैं। एक दूसरे में अनुप्रवेश करके रहने की बात इन दृष्ट पदार्थों में दिखाई नहीं देती। ये एक दूसरे से टकराते हैं। इसका कारण उनका स्थूलपना है। सूक्ष्म व स्थूल की व्याख्या आगे की जायेगी, यहाँ केवल इतना समझना कि स्थूल तो केवल स्कन्ध ही होता है और सूक्ष्म परमाणु तथा स्कन्ध दोनों। इसीलिए इन दृष्ट पदार्थों को मूल पुद्गल नहीं कहा गया है। मूल पदार्थ अनादि निधन, सर्वदा अवस्थित और संयोग वियोग की अपेक्षा से शून्य हुआ करता है, इसीलिये वह शुद्ध कहलाता है। यद्यपि जगत में पृथ्वी,अप, तेज, वायु, शरीर आदि स्कन्धों की अनेक चित्र विचित्र जातियाँ देखी जाती हैं, परन्तु उनके कारणभूत मूल परमाणु की एक ही जाति है। आज का विज्ञान भी यह बात स्वीकार करता है। स्कन्ध तो संयोगी होने के कारण बनते बिगड़ते रहते हैं इसलिये खण्डित तथा सादिसान्त होते हैं, परन्तु परमाणु एक दूसरे के साथ संयोग व वियोग को प्राप्त होता हुआ भी न नया बनता है और न बिगड़ता है, इसलिये अखण्ड है और अनादि अनन्त है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्वयं जाने को समर्थ होने से क्रिया-स्वभावी है।

२. पुद्गल-बन्ध—परमाणु में स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप ये चार प्रधान गुण तो हैं ही, इनके अतिरिक्त उसमें स्निग्ध तथा रूक्ष रूप से परिणमन करने की शक्ति भी स्वाभाविक है। उसकी यह शक्ति ही वास्तव में जागतिक चित्र-विचित्र पदार्थों की तथा जीव के शरीरों की जननी है, क्योंकि इसके प्रताप से ही वे, एक दूसरे के बन्ध को

प्राप्त होते हुए एकमेक होकर स्कन्ध का रूप धारण करते हैं। जैसे कि सोने के साथ ताम्बा मिलकर एक डली बन जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त परमाणु एक दूसरे में अवगाह पाए हुए अवस्थित हैं तथा नित्य परिणमन कर रहे हैं। परिणमन के इस स्थायी प्रवाह-क्रम में, उनमें से कुछ कभी स्निग्ध हो जाते हैं और कुछ कभी रूक्ष। स्निग्ध का अर्थ यहाँ आकर्षण युक्त समझना जैसे Proton और रूक्षका अर्थ विकर्षण युक्त जैसे Electron। निकट सम्पर्क को प्राप्त होने पर ये भिन्न गुण धारी परमाणु परस्पर में दूध पानीवत् मिलकर एकाकार हो जाते हैं, ऐसा उनका स्वभाव है। इस प्रकार के घनिष्ट संश्लेष-सम्बन्धको 'पुद्गल-बन्ध' कहते हैं। इसके कारण से बनने वाले अनेक प्रदेशी पुद्गल-पिण्ड की 'स्कन्ध' संज्ञा है। स्कन्ध में प्रतिक्षण कुछ नए परमाणु स्वयं मिलते रहते हैं और कुछ पुराने उससे पृथक् होते रहते हैं। इसका कारण भी उन परमाणुओं में स्वत: होने वाला स्निग्ध तथा रूक्ष परिणमन ही है। परमाणुओं से स्कन्ध का और स्कन्ध से परमाणुओं का मिलना तथा बिछुड़ना अथवा बनना तथा बिगड़ना-रूप यह क्रम सदा से स्वत: चल रहा है और इसी प्रकार सदा चलता रहेगा। इस स्वाभाविक व्यवस्था में हस्ताक्षेप करने का किसी को अधिकार नहीं। बनने बिगड़ने का स्वभाव रखने के कारण ही इसका नाम 'पुद्+गल' पड़ गया है।

आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से इलैक्ट्रोन तथा प्रोटोन दो प्रकार के अणु स्वीकार किये गये हैं। परमाणु व अणु में अन्तर है। परमाणु एक प्रदेशी होता है और अणु अनेक प्रदेशी सूक्ष्म स्कन्ध। यहाँ प्रोटोन स्निग्ध-स्थानीय और इलैक्ट्रोन रूक्षस्थानीय है। Like charge Reple & unlike attract each other अर्थात् समान गुणधारी अणु एक दूसरे से परे भागते हैं और असमान गुणधारी एक दूसरे से आकर्षित होते हैं। इस नियम के अनुसार एक इलैक्ट्रोन दूसरे इलैक्ट्रोन के साथ और एक प्रोटोन दूसरे प्रोटोन के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होते परन्तु अनेकों इलैक्ट्रोन किसी एक प्रोटोन के प्रति आकर्षित होकर उसकी परिक्रमा करने लगते हैं, जैसे सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी, चन्द्र आदि अनेक ग्रह करते हैं। आगम भी यही कहता है। स्निग्ध परमाणु स्निग्ध के साथ और रूक्ष रूक्ष के साथ नहीं बन्धता, परन्तु स्निग्ध व रूक्ष में परस्पर बन्ध होता है। यहाँ इतना समझते रहना चाहिए कि स्निग्धत्व तथा रूक्षत्व तरतमता की अपेक्षा से कहे गए हैं। जिस प्रकार ६० डिग्री तापमान वाला २० डिग्री तापमान वाले की अपेक्षा उष्ण है और २० डिग्री वाला ६० डिग्री वाले की अपेक्षा शीत है; उसी प्रकार अधिक अंश स्निग्धत्व वाला परमाणु हीन अंश स्निग्धत्व वाले की अपेक्षा स्निग्ध और हीन अंश स्निग्धत्व वाला परमाणु अधिक अंश स्निग्धत्व वाले की अपेक्षा रूक्ष कहा जा सकता है। सभी दृष्ट पदार्थों का निर्माण इसी प्रकार विषम परमाणुओं के संश्लेष द्वारा होता है और यही पुद्गल-बन्ध या द्रव्य-बन्ध कहलाता है।

३. जाति-भेद—ये स्कन्ध स्थूल तथा सूक्ष्म के भेद से अनेक प्रकार के हो जाते हैं। एक दूसरे में निर्बाध रूप से समा सकें और परस्पर में बाधा न पहुँचायें उन्हें सूक्ष्म कहते हैं जैसे कि एक्सरे तथा चुम्बक शक्तिकी किरणें। परस्पर में बाधक हों और एक दूसरे में न समा सकें उन्हें स्थूल कहते हैं, जैसे पत्थर लोहा आदि। कुछ पदार्थ सर्वथा स्थूल होते हैं, कुछ सर्वथा सूक्ष्म और कुछ मिश्रित अर्थात् कुछ अंशों में सूक्ष्म और कुछ अंशों में स्थूल। इस सूक्ष्मता व स्थूलता की तरतमता के कारण स्कन्धों को छः भागों में विभाजित किया गया है—स्थूल स्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म। पृथ्वी धातु आदि ठोस पदार्थ स्थूल-स्थूल अर्थात् अत्यन्त स्थूल हैं, क्योंकि एक तो किसी भी पदार्थ में प्रवेश नहीं पाते, सबको बाधा पहुँचाते हैं और दूसरे जहाँ जिस रूप में रख दें वहाँ उसी रूप में टिके रहते हैं, अपने आप वहाँ से नहीं डिगते। जल, वायु आदि तरल तथा वायवीय पदार्थ स्थूल हैं, क्योंकि एक दूसरे को बाधा पहुँचाने के कारण स्थूल होते हुए भी ठोस नहीं हैं, और बिना किसी रुकावट के कहीं रखे नहीं जा सकते हैं। वस्त्र आदि में से पार भी हो जाते हैं। प्रकाश के कारण भूत स्कन्ध स्थूल-सूक्ष्म हैं। पृथ्वी आदिसे रुक जाने के कारण स्थूलता अधिक है और शीशे आदि में से पार हो जाने के कारण अथवा पकड़कर किसी प्रकार रोके नहीं जा सकते इसलिए कुछ सूक्ष्मता भी है। शब्दादि सूक्ष्म-स्थूल हैं। ठोस तथा तरल सभी पदार्थों में से कुछ न कुछ पार हो जाते हैं इसलिए सूक्ष्म हैं, परन्तु प्रयत्न-विशेष से रोके जा सकते हैं इसलिए कुछ स्थूल भी हैं। किसी प्रकार भी रोके नहीं जा सकते परन्तु यन्त्रों के द्वारा काम में लाये जा सकते हैं ऐसे ऐक्सरे तथा चुम्बक वर्गणायें सूक्ष्म कहे जा सकते हैं। परन्तु आगम में इन्हें भी सूक्ष्म-स्थूल की कोटि में गिना गया है। आगमगत मनो तथा तैजस वर्गणा सूक्ष्म हैं। कार्माण वर्गणायें जिनका कथन आगे आने वाला है जिनसे कि द्रव्य कर्म बनते हैं, सूक्ष्म-सूक्ष्म स्कन्ध हैं। सूक्ष्म तथा सूक्ष्म-सूक्ष्म जाति के स्कन्ध परमाणु की भाँति एक दूसरे में अवगाह पाकर एक ही स्थान में अनन्तों निर्बाध रूप से रह सकते हैं।

परमाणु मिलकर पहिले स्वयं स्वाभाविक परिणमन द्वारा सूक्ष्म-सूक्ष्म अव्यवहार्य स्कन्ध बनते हैं। स्वतन्त्र रूपसे कुछ भी काम नहीं आते इसलिए अव्यवहार्य हैं। ये ही परस्पर में मिलकर अनेक जाति-की वर्गणओं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं—यथा आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्माण वर्गणा। ये वर्गणायें ही सूक्ष्म-स्कन्ध (Molecule) का स्थान ग्रहण करती हैं। प्रत्येक वर्गणा अपनी-अपनी जाति के स्थूल-स्कन्धका निर्माण करती है, इसलिए व्यवहार्य हैं। आहारक वर्गणा से स्थूल पदार्थ बनते हैं। सभी स्थूल सूक्ष्म तथा सूक्ष्मस्थूल स्कन्धों से शब्द प्रकाश आदि का निर्माण होता है, इसलिए वे उसकी अपेक्षा कम स्थूल हैं। मनो वर्गणा से मनुष्यादिका सूक्ष्म माँस पिण्ड रूप मन बनता है इसलिए सूक्ष्म है। तैजस वर्गणाओं से पदार्थों में तथा शरीरों में कान्ति तथा चमक

दमक उत्पन्न होती है, इसलिए वे और भी अधिक सूक्ष्म हैं। कार्माण वर्गणा से जीवों के अष्टविध कर्मों का निर्माण होता है, जिनका कथन आगे किया जाने वाला है। कर्म नामक पदार्थ सूक्ष्म-सूक्ष्म है अत: उसकी कारणभूता यह वर्गणा भी अत्यन्त सूक्ष्म है। ये सभी प्रकार के स्कन्ध विभिन्न जातीय उन-उन वर्गणाओं के परस्पर में मिलने से उत्पन्न होते हैं। एक-एक वर्गणा से अनेक-अनेक जाति के स्कन्ध बनते हैं, जैसे कि आहारक-वर्गणा से पृथ्वी आदि सभी दृष्ट पदार्थों का निर्माण हुआ है। इस प्रकार एक जातीय होते हुए भी पुद्गल-परमाणु चित्र विचित्र रूप धारण कर लेता है, और यह सब स्वभाव से स्वत: होता है। इसके आगे घट पट आदि पदार्थ अवश्य मनुष्य आदि कर्त्ता की अपेक्षा रखते हैं। ये वर्गणायें लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त स्थित हैं। अर्थात् सर्वत्र ठसाठस भरी हुई हैं।

४. शरीर—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति के, कीट पतंग आदि क्षुद्र जन्तुओं के, पशु पक्षी आदि तिर्यंचों के तथा मनुष्यों के जितने भी चित्र-विचित्र, जीवित मृत, स्थूल सूक्ष्म शरीर दिखाई देते हैं; उन सबका, देवों तथा नारकियों के दिव्य वैक्रियक-शरीरों का और तपस्वियों के कुछ विचित्र प्रकार के अदृष्ट योगज शरीरों का निर्माण आहारक वर्गणाका कार्य है। जैन दर्शन में पृथ्वी आदि भूतों को भी जीवों का शरीर स्वीकार किया गया है, अत: पत्थर, कोयला, ताम्बा, लकड़ी आदि जड़-पदार्थ भी अवश्य किसी न किसी जीव के शरीर हैं या रह चुके हैं। तात्पर्य यह है कि बिना जीव का संयोग हुए सूक्ष्म आहारक वर्गणा अकेली स्वयं इन स्थूल शरीरों या स्कन्धों का निर्माण नहीं कर सकती। इसलिए जितने कुछ भी स्थूल पदार्थ व्यवहार भूमि पर स्थित हैं वे सब आहारक वर्गणा के कार्यभूत जीवित या मृत शरीर हैं, अन्य कुछ नहीं।

भाषा वर्गणाका अर्थ 'शब्द' सर्व परिचित है। मनो वर्गणाका कार्यभूत 'मन' संज्ञी जीवों में ही पाया जाता है। उनके शरीरों में हृदय स्थान पर सूक्ष्म-प्राणवाहिनी नाड़ियों से निर्मित अष्टदल कमल के आकार वाली एक रचना होती है जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से आज तक किसी भी यंत्र द्वारा देखी नहीं गई है। यही मन है, जो यद्यपि अदृष्ट है तदपि अन्तरंग संकल्प विकल्पों के निमित्त रूप में उसकी सिद्धि होती है। शरीरों में स्फूर्ति, क्रिया तथा कान्ति उत्पन्न करने का निमित्तभूत तैजस शरीर, तैजस वर्गणा का कार्य है। यह अत्यन्त सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। इन सबके भीतर तथा सबका मूल कारण एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर है जिसे कार्मण शरीर कहते हैं। यह अष्टकर्मों के संघातरूप होता है। अष्टकर्मों का कथन आगे आने वाला है। यह शरीर कार्मण वर्गणा का कार्य है। ❑

४. जीव परिचय

१. जीव, २. शरीर निर्माण क्रम, ३. योग उपयोग।

१. जीव—पुद्गल की भाँति जीव भी एक सदात्मक पदार्थ है परन्तु अमूर्तीक होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। चेतना अर्थात् जानना या सुख दुःख आदि का अनुभव करना ही इसका प्रधान लक्षण है। सर्व लोक में ये अनन्तानन्त हैं। सत्ताभूत होने के कारण इनकी गणना में कभी हानि वृद्धि नहीं होती। द्रव्यत्व गुण के कारण यह भी नित्य परिणमन करता है, परतु अपना चेतनत्व छोड़कर जड़ नहीं बनता। मृत्यु होना वास्तव में इसका विनाश नहीं बल्कि देह-परिवर्तन मात्र है। अनेकों दार्शनिक इसे अणु या अंगुष्ट प्रमाण अथवा सर्व व्यापक स्वीकार करते हैं, परन्तु जैन दर्शन को यह इष्ट नहीं है। छोटा-बड़ा स्वीकार करने से उसका अखण्डत्व समाप्त हो जायेगा ऐसा भय उसे नहीं है। निरवयव होने के कारण एक प्रदेशी परमाणु और सर्वव्यापक होने के कारण आकाश में ही अखण्डत्व रह सकता है, यह कोई तर्क नहीं है। अखण्डत्व का इतना ही अर्थ है कि वह पदार्थ टूटकर एक से दो न हो जाये, भले ही वह पदार्थ बड़ा हो या छोटा। अतः जैन दर्शनकार जीव को असंख्य-प्रदेशी अर्थात् असंख्यात परमाणुओं के माप जितना बड़ा मानता हुआ उसे अखण्ड स्वीकार करता है। वह सर्व शरीर में व्यापकर रहता है। इसीलिए संसारी अवस्था में स्व-स्व शरीर प्रमाण छोटे या बड़े आकारों में उसकी उपलब्धि होती है।

जीव को शरीर-प्रमाण मानने में यह हेतु है कि ऐसा माने बिना, दुःख सुख का वेदन सर्वाङ्ग में न होकर शरीरके उस निश्चित प्रदेश में ही होने लगेगा, जिसमें कि वेदना-शक्तियुक्त जीव स्थित है, क्योंकि शरीर में वेदना-शक्ति नहीं है। शरीरस्थ नाड़ियों द्वारा वह वेदना शरीर के किसी भाग से भी जीव के स्थान तक पहुँच जाना तो कदाचित सम्भव हो भी जाये, परन्तु इस दशा में भी पीड़ा का अनुभव आत्म प्रदेशों में ही हो सकेगा, अर्थात् शरीर के उतने मात्र भाग में ही हो सकेगा जितने में कि जीव स्थित है। शेष शरीर में वह वेदन नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह सर्वथा जड़ है। परन्तु ऐसा प्रत्यक्ष प्रतीति में आ रहा। 'आत्मा तो छोटा है और उसका प्रकाश सारे शरीर में व्यापकर रहता है', ऐसा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण गुणी को छोड़कर उससे बाहर नहीं रह सकता। दीपक का दृष्टान्त भी यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि एक तो दीपक का प्रकाश वास्तव में उसका गुण नहीं और दूसरे वह जड़ है। दीपका का प्रकाशरूप गुण वास्तव में उसकी लौ में ही स्थित है, उससे बाहर नहीं। बाहर दीखने वाला प्रकाश दीपक के निमित्त से होने वाली बाह्य स्कन्धों की कोई अपनी ही पर्याय है। यह बात शरीर पर घटित नहीं होती, क्योंकि चेतन प्रकाश को पाकर जड़ शरीर चेतना-शक्तियुक्त नहीं हो सकता। अगुरुलघु नाम का सामान्य गुण बताते हुए पहले ही इस बात का निर्णय किया जा चुका है। अतः जीव को शरीर-व्यापी मानने के अतिरिक्त चारा नहीं है।

'यदि जीव बड़े शरीर-प्रमाण है तो छोटे शरीर में कैसे समायेगा, और यदि छोटे शरीर-प्रमाण है तो बड़े शरीर को कैसे व्याप्त करेगा ?', इस शंका का समाधान करने के लिए जैन दर्शनकारों ने पहले से ही जीव में संकोच-विस्तार की एक शक्ति-विशेष को स्वीकार कर लिया है, जिसके कारण छोटे शरीर में जाने पर वह सुकड़कर छोटा और बड़े शरीर में जाने पर फैल कर बड़ा हो जाता है। पूरा का पूरा फैलने लगे तो समस्त लोक में व्याप जावे और सुकड़ने लगे तो इतने छोटे शरीर में भी समा जावे जो कि माईक्रोस्कोप या अन्य किसी यन्त्र से भी दिखाई न दे सके, अर्थात् सूक्ष्म-शरीर में भी आ जाए। इसीलिए उसका पूरा माप लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी कहा गया है अर्थात् पूरा फैल जाने पर भी इससे बड़ा होकर अलोक में नहीं जा सकता। बड़े तथा छोटे शरीरों की अपेक्षा जीव के अनेकों भेद हो जाते हैं। कुछ तो हजारों योजन प्रमाण पहाड़ सरीखे शरीर को धारण करने वाले हैं और कुछ इतने छोटे शरीर वाले हैं कि बालाग्रपर भी अनेकों समा सकें। सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों की भाँति सूक्ष्म-शरीरधारी जीव भी सशरीर एक दूसरे में अवगाह पाते हुए एक ही क्षेत्र में अनेक रह सकते हैं।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन ये छः ज्ञानेन्द्रियाँ स्वीकार की गई हैं, जिनकी अपेक्षा जीव अनेक प्रकार का है। कुछ स्पर्शन मात्र को धारण करने से एकेन्द्रिय हैं, कुछ स्पर्शन तथा रसना को धारण करने से द्वीन्द्रिय, कुछ नासिका सहित त्रीन्द्रिय, कुछ चक्षु सहित चतुरेन्द्रिय और कुछ श्रोत्र सहित पंचेन्द्रिय हैं। श्रोत्र सहित पंचेन्द्रियों में भी कुछ मन-रहित होने से असंज्ञी हैं और मन-सहित होने से संज्ञी हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति एकेन्द्रीय हैं और क्योंकि भय खाकर स्वयं अपनी रक्षा करने के लिए भाग दौड़ नहीं कर सकते इसलिए 'स्थावर' कहे जाते हैं। द्वीन्द्रिय कीड़े आदि से लेकर पंचेन्द्रिय पशु, पक्षी, मनुष्य पर्यन्त सर्व जीव, अपनी रक्षा के अर्थ इधर उधर भाग दौड़ करते हैं अथवा कर सकते हैं। इसीलिए 'त्रस' कहे जाते हैं। अन्य प्रकार भी जीवों के अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, परन्तु विस्तार के भय से यहाँ इतना मात्र ही परिचय पर्याप्त है।

यद्यपि चलते फिरते इन शरीरों को देखकर यह भ्रम होने लगता है कि ये शरीर ही जीव हैं, और उपचार से कहने में ऐसा ही आता भी है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। याद रखिये कि जीव अमूर्तीक है इसलिए मूर्तीक शरीर जीव नहीं हो सकता। शरीर में रहने के कारण यद्यपि अगले प्रकरणों में उसे मूर्तीक भी कह दिया जायेगा, परन्तु उसका यह अर्थ कदापि न समझना कि वह जड़ स्कन्धों की या शरीरों की भाँति रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त इन्द्रिय ग्राह्य है। जीव तिलों में तैलवत् या अग्नि में प्रकाशवत् इस शरीर के भीतर अवस्थित है, जिसकी प्रतीति जानने देखने तथा अनुभव करने के चिन्हों से ही होती है। मृत्यु हो जाने पर वह शरीर को त्याग देता है, इसीलिए शरीर सर्वथा जड़ बनकर रह जाता है। जानने देखने का काम वास्तव में

इन्द्रियों का नहीं बल्कि उनके पीछे बैठे जीव का है, जिसके निकल जाने पर ये सब निस्तेज हो जाती हैं।

2. शरीर-निर्माण-क्रम—एक शरीर को त्यागकर, मृत्यु हो जाने पर यह एक सेकेण्ड भी शरीर-रहित नहीं रहता। तुरन्त ही दूसरा शरीर धारण कर लेता है। यद्यपि तुरन्त धारण किया हुआ वह शरीर दृष्टिगत नहीं होता, परन्तु कुछ काल पश्चात् व्यक्त होने से उसकी यह अव्यक्त अवस्था भी सिद्ध है। शरीर को धारण करने का कुछ क्रम है। योनि स्थान में प्रवेश करते ही वह अपने शरीर के योग्य कुछ आहारक वर्गणाओं का ग्रहण करता है, जो उसे मिट्टी बीज जल से, वायु तथा प्रकाश से, शरीरों के मैल से अथवा माता पिता के रज वीर्य से प्राप्त होती हैं। ये आहारक वर्गणायें उसके साथ पुद्‌गल बन्ध को अथवा द्रव्य बन्ध को प्राप्त होकर एक सूक्ष्म-पिण्ड का रूप धारण कर लेती हैं, जो प्रतिक्षण अन्य-अन्य वर्गणाओं को अपने में सम्मिलित करता हुआ बराबर वृद्धि को प्राप्त होने लगता है। इसे 'आहार पर्याप्ति' कहते हैं। इस प्रकार थोड़े ही समय में एक सूक्ष्म पिण्ड तैयार हो जाता है जो यन्त्रादि की सहायता से भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन पाता। इसका नाम 'शरीर-पर्याप्ति' है। अब इस पिण्ड में आहारक वर्गणाओं के सम्मेल के साथ-साथ कुछ इन्द्रिय भी अव्यक्त रूप से प्रगट होने लगती हैं और कुछ समयों तक यह क्रम चलता रहता है। इसे 'इन्द्रिय-पर्याप्ति' कहते हैं। अब इन तीनों कार्यों के अतिरिक्त सूक्ष्म रूप से कुछ समयों तक श्वास-प्रश्वास योग्य आहारक वर्गणाओं का अर्थात् वायु का संचार भी उस पिण्ड में प्रारम्भ हो जाता है। इसे 'श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति' कहते हैं। तत्पश्चात् भाषा वर्गणाओं के सम्मेल से बोलने की शक्ति का उदित हो जाना 'भाषा पर्याप्ति' और मनो-वर्गणाओं का सम्मेल 'मनो पर्याप्ति' कहलाती है।

पृथक्-पृथक् ये छहों पर्याप्तियें कुछ सेकेण्डों में पूरी हो जाती हैं। कुछ सेकेण्डों में या एक दो मिनट में ही यह सब क्रम पूरा हो जाने पर वह जीव पर्याप्त कहलाने लगता है, परन्तु अब भी उसका शरीर इन्द्रिय-ग्राह्य हो नहीं पाता। तत्पश्चात् छहों प्रकार का यह क्रम युगपत् चलता रहता है, और इस प्रकार अपने-अपने योग्य काल के पश्चात् व्यक्त होने लगता है। गर्भस्थ मनुष्य का बालक तीन महीने पश्चात् सांगोपांग व्यक्त दशा को प्राप्त होता है। पक्षियों के अण्डों में यह पिण्ड कुछ दिनों में और विष्टा आदि में उत्पन्न होने वाले कीड़ों का कुछ घण्टों में तैयार हो जाता है। वनस्पति का प्रथम अंकुर भी कुछ घण्टों या दिनों में प्रकट हो जाता है। बराबर उन वर्गणाओं के साथ बन्ध को प्राप्त होता हुआ वह बढ़ता रहता है और एक दिन सांगोपांग रूप में क्रियाशील दिखाई देने लगता है। जीवन पर्यन्त इन वर्गणाओं का ग्रहण बराबर चलता रहता है, कुछ वायु मण्डल से कुछ सूर्य-प्रकाश से और कुछ अन्न से। इस प्रकार यह जान लेना सरल है कि 'अण्डे में प्राण नहीं होते' ऐसा कहने वालों की बात कहाँ तक सत्य है।

वास्तव में जीव-शक्ति के अभाव में अण्डे का या शरीर का निर्माण प्रारम्भ हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके बिना केवल जड़ वर्गणाओं में स्वतन्त्र रूप से वैसा करने की शक्ति का अभाव है। व्यक्त न होना इस बात का प्रमाण नहीं कि वहाँ कुछ है ही नहीं, अन्यथा तीन महीने पश्चात् प्रकट होने वाले गर्भस्थ बालक के शरीर का पिण्ड भी निर्जीव स्वीकार करना होगा। पुद्गल-बन्ध की भाँति जीव प्रदेशों के साथ आहारक आदि वर्गणाओं का यह बन्ध 'जीव-पुद्गल बन्ध या उभय-बन्ध' कहलाता है। पुद्गल-स्कन्धों की भाँति शरीर में भी प्रति समय पुरानी वर्गणाओं का विच्छेद और कुछ नई वर्गणाओं का सम्मेलन बराबर चलता रहता है। इन वर्गणाओं का ग्रहण कृत्रिम तथा अकृत्रिम दोनों प्रकार से होता है। भोजन-पान से तथा लेप आदि से होने वाला ग्रहण कृत्रिम होता है और श्वास प्रश्वास से तथा रोम-कूपों द्वारा सर्वाङ्ग से प्रति समय वायु तेज आदि का जो ग्रहण स्वतः होता रहता है वह अकृत्रिम है। यह दोनों प्रकार का ग्रहण जीव का आहार कहलाता है। भोजन पान के द्वारा कवलाहार और सर्वाङ्ग के द्वारा नोकर्माहार होता है। तेल आदि की मालिश लेपाहार है, और आगे आने वाले अष्ट कर्मों का ग्रहण कर्माहार कहलाता है। लोक में यद्यपि कवलाहार प्रधान गिना जाता है परन्तु वास्तव में नोकर्माहार ही प्रधान है, क्योंकि कुछ तपस्वियों का तथा योगियों का काम इतने मात्र से चल जाता है और उन्हें पृथक् से अन्नपान ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह जानने के पश्चात ऐसी आशंका को अवकाश नहीं रहता है कि बिना आहार या जल के वे जीवित कैसे रहते होंगे। शरीर रूपेण जीव पुद्गल का यह उभय-बन्ध भी वस्तु-स्वभाव के आधीन है। यहाँ भी किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

३. योग उपयोग—जीव की पर्याय दो प्रकार की होती हैं द्रव्यात्मक तथा भावात्मक। द्रव्यात्मक पर्याय क्रिया रूप या प्रदेश परिस्पन्दन रूप होती है, जिसका परिचय वस्तु-स्वभाव के अधिकार में पर्याय के अन्तर्गत दिया जा चुका है। जीव की इस द्रव्यात्मक पर्याय को 'योग' कहते हैं, जो प्रदेश-परिस्पन्दन के रूप में एक होते हुए भी मन, वचन तथा काय के निमित्त से प्रकट होने के कारण तीन प्रकार का कहा जाता है। भावात्मक पर्याय ज्ञान का परिणमन रूप होती है, वह परिणमन शुद्ध हो या अशुद्ध उनका कार्य शुद्ध-परिणमन श्रेयों को जानना मात्र होता है अर्थात् साक्षी भाव से ज्ञाता दृष्टा बनकर रहना मात्र होता है। इसे जानना मात्र भी कह सकते हैं। उसका अशुद्ध परिणमन रागद्वेषादि रूप अथवा अंहकार ममकार आदि के भावरूप होता है। ये दोनो प्रकार के ही परिणमन 'उपयोग' कहलाते हैं। इस प्रकार योग उसकी 'द्रव्य-पर्याय' और उपयोग उसकी 'भाव-पर्याय' है। योग से प्रदेशों में बन्ध होता है और उपयोग से भावों में। इसे ही आगे द्रव्य-बन्ध तथा भाव-बन्ध में बताया जायेगा।

❑

५. बन्ध परिचय

१. बन्ध वैशिष्ट्य, २. जीव-पुद्गल बन्ध, ३. कथंचित् मूर्तिमत्त्व, ४. पंचविध शरीर।

१. बन्ध वैशिष्ट्य—पुद्गल परमाणुओं से पुद्गल परमाणुओं का बन्ध होने से सूक्ष्म-स्कन्धरूप पंच वर्गणाओं की उत्पत्ति, और जीव प्रदेशों के साथ उन वर्गणाओं के बन्ध से शरीरों की उत्पत्ति अथवा अन्य सूक्ष्म स्थूल-स्कन्धों की उत्पत्ति कह दी गई। यहाँ बन्धको बालू के कणों की भाँति संयोग अथवा सम्पर्क मात्र न समझना। संयोग व बन्ध में महान् अन्तर है। रज कणों की भाँति परस्पर में मिलकर भी पृथक्- पृथक् रहना संयोग कहलाता है जो दो प्रकार का होता है—भिन्न क्षेत्रवर्ती और एक क्षेत्रवर्ती। रजकणों का संयोग भिन्न क्षेत्रवर्ती है, क्योंकि वे परस्पर एक दूसरे में अवगाह को प्राप्त न होकर पृथक्-पृथक् प्रदेशों पर स्थित रहते हैं। अनन्तों परमाणुओं का या सूक्ष्म स्कन्धों का या वर्गणाओं का संयोग एक क्षेत्रवर्ती है, क्योंकि ये परस्पर एक दूसरे में अवगाह को प्राप्त होकर एक ही प्रदेश में स्थित हो जाते हैं। एक क्षेत्रावगाह रूप से आकाश के एक ही क्षेत्र में रहने पर भी ये परस्पर बन्ध को प्राप्त हुए नहीं कहला सकते क्योंकि इस प्रकार उनका एक दूसरे के साथ कोई गाढ़ सम्बन्ध नहीं होने पाता। वे अब भी एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष अपना-अपना स्वतन्त्र परिणमन या कार्य करते रहते हैं। उनमें केवल शुद्ध अर्थ पर्याय ही उपलब्ध होती है, अशुद्ध पर्याय नहीं, न ही उनकी कोई नई आकृति बन पाती है। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर जो इस प्रकार अनन्तों द्रव्य रह रहे हैं वे स्वतन्त्र सत्ता रखने के कारण परस्पर में बन्धे नहीं हैं।

बन्ध में कुछ विशेषता होती है। मिल-जुलकर एकाकार अखण्ड रूप बन जाना बन्ध कहलाता है जो संश्लेष सम्बन्ध स्वरूप होता है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ट होता है कि बन्ध को प्राप्त मूल पदार्थ भले ही जड़ हो या चेतन अपने-अपने पृथक् पृथक् शुद्ध स्वरूप से च्युत होकर कोई विजातीय रूप धारण कर लेते हैं, जो न केवल शुद्ध परमाणु रूप होता है और न शुद्ध चेतनारूप। उदाहरण के रूप में ऑक्सीजन व हाईड्रोजन इन दो गैसों को ले लीजिये। दोनों वायु स्वरूप हैं और दोनों ही अग्नि को भड़काने की शक्ति रखती हैं, परन्तु परस्पर बन्ध को प्राप्त हो जाने पर न आक्सीजन रहती न हाइड्रोजन, एक तीसरा ही नया पदार्थ बन जाता है, अर्थात् जल बन जाता है, जिनमें अग्नि को भड़काने की बजाये उसे बुझाने की शक्ति है। ऐसे बन्धको संश्लेष बन्ध कहते हैं। समस्त रासायनिक प्रयोग का आधार यही बन्ध है। सोना तथा ताम्बा मिलकर एक अखण्ड पिण्ड बन जाता है जो न शुद्ध स्वर्ण है न शुद्ध ताम्बा। एक तीसरी विजातीय धातु बन जाती है। इसी प्रकार पीतल, काँसा आदि भी जानना।

इस पर से यह ग्रहण न कर लेना कि बन्धको प्राप्त वे दोनों पदार्थ सर्वथा अपने स्वभाव को तिलाञ्जली दे बैठे हैं, क्योंकि इसका निराकरण पहले ही अगुरुलघु गुण के प्रकरण में कर दिया गया है । बन्ध जाने पर भी इनकी स्वतन्त्रता अवश्य बनी रहती है परन्तु वह अव्यक्त या तिरोभूत अवश्य हो जाती है। स्वत: या किसी विशेष रासायनिक प्रयोग द्वारा पृथक् हो जाने पर उनका वह स्वभाव पुन: व्यक्त या आविर्भूत हो जाता है । जैसे कि प्रयोग विशेष के द्वारा जल को फाड़ देने पर पुन: ऑक्सीजन हाइड्रोजन बन जाते हैं, अथवा मिश्रित स्वर्ण को शोधने पर सोना तथा ताम्बा अपने अपने शुद्ध रूप में प्रकट हो जाते हैं । बन्ध अवस्था में ही उनका यह विजातीय रूप रहता है, पृथक् हो जाने पर पुन: अपने स्वभाव में आ जाते हैं । इसी प्रकार परमाणु भी स्कन्ध में बंधकर अपने स्वभाव से च्युत हो जाता है और शरीर के साथ बंधकर जीव भी । पृथक्-पृथक् हो जाने पर दोनों अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित हो जाते हैं ।

संश्लेष रूप इस सम्बन्ध विशेष में केवल क्षेत्रात्मक प्रदेश बन्ध ही नहीं होता, द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव इन चारों का ही बन्ध हो जाता है । पृथक् पृथक् द्रव्य सदा एक होता है, परन्तु बद्ध-द्रव्य एकाधिक द्रव्यों का पिण्ड । शुद्ध द्रव्य स्व-प्रदेश प्रमाण ही होता है। अर्थात् पुद्गल एक प्रदेशी और जीव लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी, परन्तु बद्ध-स्कन्ध अनेक प्रदेशी और बद्ध-जीव शरीर-प्रमाण असंख्यात प्रदेशी होता है । शुद्ध द्रव्य की शुद्ध पर्याय केवल एक समय स्थायी होती है, परन्तु बद्ध-जड़ द्रव्यों की तथा बद्ध चेतन द्रव्यों की अशुद्ध द्रव्य पर्यायें अथवा भाव-पर्यायें नियम से असंख्यात समय स्थायी या अधिक काल स्थायी होती हैं । शुद्ध द्रव्यों का भाव अपने-अपने शुद्ध गुणों रूप रहता है, परन्तु बद्ध द्रव्यों का भाव अनेक गुणों के मिश्रण से विकृत हो जाता है। शुद्ध अवस्था में जड़ या चेतन कोई भी पदार्थ इन्द्रिय-गोचर नहीं होता परन्तु बद्ध अवस्था में जड़-स्कन्ध तथा शरीरधारी जीव इन्द्रिय-ग्राह्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि द्रव्य के स्व चतुष्टय ही बदलकर विजातीय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार संश्लेष बन्ध की विचित्रता है । यह ठीक है कि बन्ध को प्राप्त वस्तुयें एक क्षेत्रावगाही हो जाती हैं, परन्तु सर्व ही एक क्षेत्रावगाही वस्तुएं बन्ध को प्राप्त हो जायें यह आवश्यक नहीं है जैसे कि एक प्रदेश पर स्थित अनन्त परमाणु परस्पर बन्धको प्राप्त न होकर पृथक्-पृथक् रहते हैं ।

अनन्तानन्त परमाणु, अनन्तों सूक्ष्म वर्गणायें, अनन्तों सूक्ष्म शरीरधारी जीव तथा एक स्थूल शरीरधारी जीव; लोकाकाश के एक प्रदेश या क्षेत्र पर इतनी बड़ी समष्टि का अवस्थान पाया जाता है । ये सभी एक दूसरे में अवगाह पाकर निर्बाध रूप से स्थित रहते हैं । इन सबमें परस्पर एक क्षेत्रावगाह तो है परन्तु संश्लेष सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थों का परिमणमन एक दूसरे से निरपेक्ष स्वतंत्र रीति से चलता रहता है । बन्ध में ऐसा होने नहीं पाता क्योंकि बन्ध को प्राप्त सभी परमाणुओं का तथा जीव का परिणमन एक दूसरे की अपेक्षा रखकर होता है, और यही उसका

विकार कहलाता है-। अपने शुद्ध तथा स्वतन्त्र रूप को छोड़कर अन्य के आधीन हो जाना या अपने कार्य में अन्य की सहायता की अपेक्षा रखना ही विकार है। यह भाव अपने शुद्धभाव से च्युत हो कर किसी विजातीय प्रकार का हो जाता है, जैसे दूध के मिठास से दही का खटास हो जाना।

२. **जीव-पुद्गल बन्ध**—यहाँ पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि मूर्तीक परमाणु से मूर्तीक परमाणु का बन्धना तो ठीक, परन्तु अमूर्तीक जीव के साथ मूर्तीक पुद्गलका बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ? सो भाई यहाँ जिस अमूर्तीक पदार्थ की बात चलती है वह वास्तव में आकाशवत् सर्वथा अमूर्तीक नहीं है। जिस प्रकार घी नामक पदार्थ मूलत: दूध में उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के पश्चात् उसे पुन: दूध रूपेण परिणत करना सम्भव नहीं है। अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलत: पाषाण के रूप में उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे पुन: किट्टी कि साथ मिलाया जाना असम्भव है। इसी प्रकार जीव नामक पदार्थ सदा ही मूलत: शरीर में उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार स्थूल व सूक्ष्म शरीरों से सम्बन्ध छूट जाने पर पुन: इसका शरीर के साथ बँध जाना असम्भव है। इसी पर से यह जाना जाता है कि घी तथा स्वर्ण की भाँति जीव मूलत: अमूर्तीक या शरीर-रहित नहीं बल्कि शरीर के साथ द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूपेण संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त होने के कारण वह अपने अमूर्तीक स्वभाव से च्युत हुआ उपलब्ध होता है, और इस कारण वह मूलत: अमूर्तीक न होकर कथंचित् मूर्तीक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर संसारावस्था में उसका शरीररूप मूर्तीक पदार्थ के साथ बन्ध हो जाना विरोध को प्राप्त नहीं होता। हाँ एक बार मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्तीक अवश्य हो जाता है, और तब शरीर के साथ उसके बन्ध का प्रश्न नहीं होता।

३. **कथंचित् मूर्तिमत्त्व**—फिर भी उसे मूर्तीक किस प्रकार कहा जा सकता है, ऐसी शंका योग्य नहीं, क्योंकि संश्लेष-सम्बन्ध रूप बन्ध की विचित्रता बताते हुए यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि बन्ध नाम उसी भाव-विशेष का है, जिसमें कि पदार्थ अपने स्वभाव से च्युत हो कर विजातीय रूप धारण कर लेता है। अत: संसारस्थ जीव न सर्वथा शुद्ध अमूर्तीक है और न सर्वथा शुद्ध मूर्तीक। इन दोनों के बीच की कुछ ऐसी अवस्था है, जिसमें कि उसके साथ मूर्त पदार्थ का बन्ध हो सकना सम्भव है।

उनका शरीर-सापेक्ष द्रव्यात्मक रूप ही नहीं, भावात्मक रूप भी इस दिशा में अमूर्तीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अमूर्तीक या निराकार ज्ञानभाव साक्षी रूप से ज्ञाता द्रष्टा बना वस्तु को जानता मात्र है, उसके साथ अहंकार ममकार द्वारा बन्धन को प्राप्त नहीं होता। ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी त्रिपुटी का अभाव होने से वह केवल ज्योति मात्र है। इससे विपरीत संसारस्थ जीव का ज्ञान-भाव मूर्तीक पदार्थों के साथ या ज्ञेयों के साथ अहंकार ममकार द्वार बंधा हुआ है, जिसके कारण वह सदा हर्ष-विषाद से ग्रस्त रहता है। दूर पड़े हुए भी खिलौने को देखकर बालक प्रसन्न होता है और उसे हटा देने पर रोने लगता है।

इस पर से ही मूर्तीक पदार्थों के साथ ज्ञान-भाव के बन्धन की सिद्धि होती है। इस बन्ध-विशेष के कारण जीव का भाव भी कथंचित् मूर्तीक कहा जाता है।

बन्ध की इस विचित्रता को बताने का यह अर्थ न समझ लेना कि यहाँ कदाचित् आत्मा को भौतिक पदार्थ जैसा कुछ स्वीकार किया जा रहा है। यद्यपि यह त्रिकाल चेतन है, परन्तु इसमें 'द्रव्य बन्ध' तथा 'भाव बन्ध' की शक्ति-विशेष भी स्वीकारनीय है, क्योंकि वह सर्व-प्रत्यक्ष है। यही उपरोक्त कथन का तात्पर्य है।

४. पंच विध शरीर—"मृत्यु हो जाने पर तो क्षण भर के लिए, अर्थात् दूसरा शरीर धारण नहीं कर ले तब तक पूर्व शरीर से छूट जाने के कारण अमूर्तीक हो ही जाता है," ऐसी शंका को भी यहाँ स्थान नहीं है क्योंकि तब भी द्रव्य तथा भाव दोनों ही दिशाओं में बन्धा हुआ होने के कारण वह मूर्तीक ही है। भले बाहर का स्थूल शरीर छूट जाये पर शरीर से मुक्त नहीं होता, क्योंकि शरीर पाँच माने गए हैं—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण। बाहर का यह पंच-भौतिक स्थूल शरीर औदारिक है। देव नारकियों के विशेष प्रकार के शरीर वैक्रियक होते हैं, जो इन आँखों से दिखाई नहीं देते। कुछ योगियों को भी तप के प्रभाव से वह प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त भी उन लोगों में से किन्हीं को एक विचित्र प्रकार का अदृष्ट तथा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो जाता है, जिसका परिचय देने का यहाँ अवकाश नहीं। उसे आहारक शरीर कहते हैं। इन तीनों के भीतर और भी दो अत्यन्त सूक्ष्म शरीर रहते हैं—तैजस तथा कार्मण। शरीर में स्फूर्ति, क्रिया तथा कान्ति उत्पन्न करने वाला तैजस है और अष्ट कर्मों के संघातरूप कार्मण है, जिसका कोई भी इन्द्रिय-गम्य लक्षण या चिह्न दिखाया नहीं जा सकता।

यह कार्मण शरीर ही प्रकृत विषय का वाच्य है। इसका निर्माण कार्मण वर्गणाओं से होता है। यद्यपि मृत्यु होने पर बाह्य का औदारिक-शरीर त्यागपत्र दे देता है, परन्तु यह कभी भी नहीं हटता। यद्यपि इसमें प्रतिक्षण कुछ नई वर्गणाओं की वृद्धि और कुछ पुरानी वर्गणाओं की हानि अवश्य होती रहती है, परन्तु संतान क्रम से यह उस समय तक बराबर बना रहता है, जब तक कि जीव स्वयं उद्यम-पूर्वक वीतरागता का आश्रय लेकर तपश्चरण की अग्नि में उसे भस्म नहीं कर देता। अत: कार्मण शरीर ही जीव का मूल शरीर है। इसे सूक्ष्म या लिंग शरीर भी कहते हैं। ऊपर जिस शरीर-बन्धका कथन कर आये हैं उसका तात्पर्य मुख्यत: इसी से है। यही जीव तथा स्थूल शरीर की सन्धि में गोंद का काम करता है। जिस प्रकार कि दो धातुओं को वेल्डिंग द्वारा जोड़ने पर मध्य में एक सूक्ष्म सन्धि उत्पन्न हो जाती है, जिसमें दोनों धातुओं का संयोगी रूप स्थित रहता है; उसी प्रकार जीव तथा स्थूल शरीर के मध्य में कार्मण शरीर स्थित रहता है जिसके कारण वे दोनों परस्पर में जुड़े रहते हैं। बाह्य शरीर छूट जाने पर भी इसके कारण जीव मूर्तीक ही बना रहता है, और पुन: दूसरे शरीर से बँध जाता है। ❑

६.कर्म परिचय

१. पुनरावृत्ति, २. कर्म-सामान्य, ३. द्रव्यकर्म भावकर्म, ४. चतु:श्रेणी बन्ध।

१. पुनरावृत्ति—कर्मका सम्बन्ध क्योंकि वस्तु के परिणमनशील अंश से अर्थात् क्रिया, परिस्पन्द, पर्याय या परिणमन से है, अत: पाठक को इस स्थल पर पूर्वकथित तीनों अधिकारों का स्मरण कर लेना योग्य है, क्योंकि विषय कुछ जटिल है। वहाँ बताया गया है कि पुद्गल व जीव दोनों ही स्वभाव से प्रति समय अपनी अवस्था बदल रहे हैं, जिसे उनका परिणमन कहते हैं। यह परिणमन दो प्रकार का है—द्रव्यात्मक (प्रवेशात्मक) और भावात्मक। द्रव्यात्मक परिणमन को क्रिया व परिस्पंदन कहते हैं और भावात्मक को पर्याय या परिणमन। क्रिया दो प्रकार की है—गति रूप तथा संकोच विकास रूप। पहली पदार्थों के संयोग-वियोग में कारण है और दूसरी उनकी आकृति निर्माण में। पहली का नाम क्रिया है और दूसरी का नाम परिस्पन्दन।

पर्याय भी दो प्रकार की है अर्थ व व्यञ्जन। अर्थ-पर्याय भाव या गुण की अवस्था है और व्यञ्जन-पर्याय द्रव्य या क्षेत्र की। अर्थ-पर्याय सूक्ष्म तथा अल्पकाल-स्थायी होती है और व्यञ्जन-पर्याय स्थूल तथा चिरकाल-स्थायी। बन्धहीन शुद्ध पदार्थों में अर्थ-पर्याय ही उपलब्ध होती है परन्तु बन्ध को प्राप्त अशुद्ध पदार्थों में अर्थ व व्यञ्जन दोनों। जीव की परिस्पन्दन-क्रिया को 'योग' और भावात्मक-पर्याय को 'उपयोग' कहते हैं। योग तो मात्र जीव-प्रदेशों का परिस्पन्दन है और 'उपयोग' जानने देखने रूप अथवा राग द्वेषादि रूप उसका अन्तरंग भाव है। पुद्गल की परिस्पन्दन-क्रिया स्कन्ध का बनना बिगड़ना अथवा आकृति बदलना है और भावात्मक पर्याय रस रूप आदि है।

पुद्गल द्रव्यात्मक पदार्थ है और जीव भावात्मक। अत: पुद्गल की क्रिया या पर्याय को 'द्रव्य कर्म' और जीव की क्रिया या पर्याय को 'भाव कर्म' कहते हैं। इतना कुछ जाने बिना कर्म सिद्धांत का समझना असम्भव है, इसीलिए प्रकृत विषय चालू करने से पहले इतनी भूमिका बनानी पड़ी है।

२. कर्म सामान्य—अब विचारना यह है कि कर्म क्या चीज है। वैशेषिक दर्शन ने 'कर्म' को एक पदार्थ स्वीकार किया है, जिसका लक्षण गमनागमन, संकोच विस्तार, उन्मेष निमेष, अवक्षेपण उत्क्षेपण आदि क्रिया है। इसे ही यहाँ पुद्गल या शरीर में होने वाली द्रव्यात्मक क्रिया कहा गया है। परन्तु जैन लोग इससे भी कुछ आगे बढ़कर कर्म शब्द का व्यापक लक्षण करते हैं। कर्म का अर्थ 'कार्य' है, वह द्रव्यात्मक हो या भावात्मक, परिस्पन्दन रूप हो या परिणमन रूप, क्रिया रूप हो या

पर्याय रूप। क्योंकि कार्य उसे ही कहते हैं जो किसी एक समय-विशेष में प्रारम्भ होकर किसी दूसरे समय-विशेष में समाप्त हो जाये। अत: कर्म या कार्य नित्य न होकर उत्पन्न-ध्वंसी ही होते हैं। यही लक्षण पर्याय का भी है। अत: सैद्धान्तिक दृष्टि से देखने पर कर्म का अर्थ पर्याय के अतिरिक्त कुछ नहीं। कर्म व कार्य को पर्यायवाची स्वीकार कर लेने पर कहा जा सकता है कि कर्म का कोई न कोई कर्त्ता या करण अवश्य होना चाहिए। कर्त्ता व करण दो प्रकार के हैं—उपादान व निमित्त। यहाँ प्रकरणवशात् उपादान कर्त्ता करण की बात समझना। जो परिणमन करे सो कर्त्ता, जिस अपने स्वभाव के द्वारा परिणमन करे वह करण और जो पर्याय-विशेष प्रकट हो वही उसका कार्य या कर्म है। इस प्रकार जड़ तथा चेतन दोनों ही पदार्थ स्वयं अपनी पर्याय के कर्त्ता हैं, उनका स्वभाव करण है और वह पर्याय उनका कर्म है।

३. द्रव्यकर्म व भाव कर्म—पर्याय का परिचय पहले दिया जा चुका है, अत: पर्याय वाले सर्व विकल्प कर्म पर लागू करने से वह तीन प्रकार का हो जाता है—गमनागमन-रूप, संकोच-विकास रूप (परिस्पन्दन रूप) और परिणमन रूप। अथवा यों कह लीजिये कि कर्म दो प्रकार का होता है—द्रव्य रूप और भाव रूप। गमनागमन रूप क्रिया द्रव्य-कर्म है और परिणमन-रूप पर्याय भाव-कर्म है। इस प्रकार जीव तथा पुद्गल दोनों ही पदार्थों में दोनों प्रकार के कर्मों की सिद्धि होती है। परन्तु जैसा कि पहिले वस्तु-स्वभाव वाले अधिकार में 'द्रव्य व भाव' के अन्तर्गत बताया जा चुका है, प्रयोजनवशात् पुद्गल को द्रव्यात्मक पदार्थ और जीव को भावात्मक पदार्थ माना गया है; इसीलिए पुद्गल की पर्याय द्रव्य-कर्म और जीव की पर्याय भाव-कर्म है ऐसा ही शास्त्रों में प्रधानता से कथन करने में आया है। पुद्गल की पर्याय क्रिया-प्रधान है और जीव की भाव-प्रधान, इसलिए पुद्गल वर्गणाओं के पारस्परिक बन्ध से जो स्कन्ध बनते हैं वे द्रव्य कर्म हैं, और जीव के उपयोग में रागादि के कारण ज्ञेयों के साथ जो बन्धन होता है वह भाव-कर्म है।

इन दोनों के बीच में जो जीव का 'योग' या प्रदेश-परिस्पन्दन है, उसे यद्यपि हम न द्रव्य-कर्म कह सकते हैं और न भाव-कर्म तदपि यही इन दोनों के मध्य की सन्धि है, जिसके कारण द्रव्य-कर्म रूप पुद्गल-स्कन्ध बनते हैं और जीव-प्रदेशों के साथ बन्ध जाते हैं। क्योंकि उपयोग की भाँति इसका भी सम्बन्ध जीव के साथ है इसलिए यह भी उसका भाव-कर्म कहा जा सकता है।

द्रव्य कर्म रूप पुद्गल-स्कन्ध, वर्गणा-भेद की अपेक्षा पाँच प्रकार के बताये गये हैं—आहारक, भाषा, मनो, तैजस व कार्मण। इन पाँचों के पृथक्-पृथक् कार्यों का परिचय भी पहिले दिया जा चुका है। आहारक वर्गणा से जो जीवों के स्थूल शरीर बनते हैं वे ही जीव निकल जाने के पश्चात् जड़ पदार्थ कहे जाते हैं—जैसे पत्थर, धातु, लकड़ी, जल, चमड़ा, हड्डी आदि। अत: जीव के जीवित-शरीर और सकल जड़

भौतिक पदार्थ एक ही आहारक जाति के हैं जिसे आगम में 'नो कर्म' या 'किञ्चित्-कर्म' ऐसी संज्ञा प्राप्त है। कार्मण वर्गणा से जो विशेष प्रकार का स्कन्ध बनता है उसे 'द्रव्य-कर्म' कहा गया है। जीव के योग तथा उपयोग के निमित्त से होते हैं इसलिए तथा जीव के बाह्य तथा भीतरी शरीर का निर्माण करते हैं इसलिए इन दोनों को जीव का कर्म कहना न्याय-संगत है।

भाव-कर्म जीव के उपयोग रूप होता है। संकल्प-रूप होने से वैसे तो उन सूक्ष्म भावों की गणना कौन कर सकता है, परन्तु परिचय देने के लिए स्थूल-रूप से उन्हें १४ प्रकार का बताया गया है—मिथ्यात्व, क्रोध; मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेद। मिथ्यात्व उस भीतरी सूक्ष्म विपरीत धारणा का नाम है, जो अतत्त्व में तत्त्व की और अतथ्य में तथ्य की कल्पणा कराये बैठी है; चेतन तत्त्व का भान होने नहीं देती और शरीर, इन्द्रिय तथा उनके विषयों में ही मैं व मेरे पने की अथवा इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना बनाये रखती है। क्रोध आदि सकल कषायों का बीज होने के कारण यह ही सबका गुरु या पिता है। क्रोध, मान, माया, लोभ सर्व-परिचित हैं। रति नाम इष्ट-विषयों में आसक्ति का है और अरति अनिष्ट-विषयों में अनासक्ति का। हास्य, शोक व भय परिचित हैं। विष्टा आदि पदार्थों में ग्लानि के भाव को जुगुप्सा कहते हैं। पुरुष के साथ मैथुन के भाव को स्त्री-वेद, स्त्री के साथ मैथुन के भाव को पुरुषवेद और दोनों के साथ मैथुन के भाव को नपुंसक वेद कहते हैं। इनमें से मिथ्यात्व का नाम 'मोह' है और क्रोधादि १३ भाव राग द्वेष में गर्भित हो जाते हैं। क्रोध, माया, अरति, शोक, भय जुगुप्सा ये ६ भाव द्वेष हैं और शेष ७ राग। इस प्रकार भाव-कर्म तीन प्रकार का है—मोह, राग तथा द्वेष। राग भी दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ। पूजा, दया, दान, संयम, तप आदि शुभ और हिंसा, असत्य आदि अशुभ हैं। शुभ को पुण्य और अशुभ को पाप कहते हैं। द्वेष सर्वथा अशुभ या पापरूप ही होता है।

४. चतुःश्रेणी बन्ध—द्रव्य-कर्म को यहाँ कुछ विस्तार के साथ बताना इष्ट है। अन्य पदार्थों की भाँति इसका बन्ध भी चार अपेक्षाओं से पढ़ा जा सकता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश। जैसा कि आगे बताया जायेगा ये चारों अपेक्षायें वस्तु के स्व-चतुष्टय ही हैं अर्थात् द्रव्य क्षेत्र काल भाव ही हैं अन्य कुछ नहीं। कार्मण वर्गणा से निर्मित होने के कारण वह द्रव्य है। ज्ञान आदि को आवृत या विकृत करने का स्वभाव उसकी प्रकृति है। कार्मण शरीर के आकार वाला होना उसका स्व-क्षेत्र है जिसका मान उसके प्रदेशों से किया जाता है। किसी निश्चित काल तक जीव के साथ रहना उसका स्व-काल है और वही उसकी स्थिति कहलाती है। उसकी तीव्र या मन्द फलदान शक्ति उसका स्व-भाव है जिसे यहाँ अनुभाग कहा जाता है।

कर्म-बन्ध तो हो परन्तु उसकी कोई प्रकृति स्वभाव या जाति न हो, यह असम्भव है। जैसे पुद्गल की प्रकृति रूप रसादि है और चेतन की ज्ञान, उसी प्रकार

कर्म की भी कोई फलदानरूप प्रकृति होनी चाहिए। कर्म बन्ध तो हो परन्तु उसकी कोई स्थिति या आयु न हो सो असम्भव है। जिस प्रकार सभी पुद्गल-स्कन्धों की तथा शरीरधारी जीव की हीन या अधिक कुछ न कुछ स्थिति अवश्य होती है, जिसके समाप्त होने पर वह जीर्ण हो जाता है या मर जाता है, उसी प्रकार बन्ध को प्राप्त कर्म की भी कोई स्थिति अवश्य होती है जिसके पूर्ण होने पर वह शरीर की भाँति जीव का साथ छोड़ देता है। शुद्ध द्रव्यों की स्थिति अनादि अनन्त होती है, क्योंकि उनकी नवीन उत्पत्ति या नाश नहीं होता; परन्तु बन्ध को प्राप्त अशुद्ध पुद्गल व जीव की स्थिति या आयु अवश्य होती है। बद्ध पदार्थ की स्थूल व्यञ्जन-पर्याय का उत्पत्ति से विनाश पर्यन्त का काल ही उसकी स्थिति है।

कर्म बन्ध तो हो पर उसका कोई भी तीव्र या मन्द रस या अनुभाग न हो यह असम्भव है। प्रकृति तथा अनुभाग में यह अन्तर है कि प्रकृति सामान्य है और अनुभाग उसका विशेष। आम नाम के पदार्थ की प्रकृति तो मीठापन है, पर वह कितना मीठा है, कम या अधिक, सो उसका अनुभाग है। दूध रूप से समान प्रकृति वाले होते हुए भी भैंस के दूध में चिकनाहट अधिक होती है, और बकरी के दूध में कम। इस प्रकार कर्म शक्ति की तरतमता का नाम अनुभाग है। अनुभाग भावात्मक होने के कारण यह अविभाग-प्रतिच्छेद से मापा जाता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। आज की भाषा में इसे 'डिग्री' कहा जा सकता है। अन्य स्कन्धों की भाँति कर्म भी क्योंकि पुद्गल-स्कन्ध माना गया है, भले ही वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो; इसलिए अवश्य ही उसमें भी एक से अधिक परमाणु या प्रदेश होने चाहियें, क्योंकि अकेला परमाणु बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकता। उस कर्म स्कन्ध में स्थित परमाणुओं की संख्या ही यहाँ प्रदेश शब्द की वाच्य है।

इस प्रकार इन चारों को हम कर्म-बन्ध के स्व-चतुष्टय कह सकते हैं। कार्मण-स्कन्ध रूप द्रव्य-कर्म का पिण्ड स्वयं द्रव्य है, उसमें स्थित प्रदेश उसका क्षेत्र है, उसकी स्थिति काल है और अनुभाग उसका भाव है। स्व-चतुष्टय को धारण करने से यह सत्ताभूत एक पदार्थ है, काल्पनिक वस्तु नहीं। इन चारों को शास्त्र में चार प्रकार का बन्ध कहकर वर्णन किया गया है। जहाँ एक होता है वहाँ चारों अवश्य होते हैं। ऐसा नहीं होता कि प्रकृति व प्रदेश तो हों पर उसकी स्थिति व अनुभाग न हों। कहीं-कहीं प्रयोजनवश ऐसा कहा जाता है कि कषायों का अभाव हो जाने से वीतरागी जनों को बन्धने वाले कर्म में प्रकृति व प्रदेश तो होते हैं पर स्थिति व अनुभाग नहीं होते। यहाँ ऐसा अभिप्राय: जानना कि स्थिति एक समय मात्र है और अनुभाग जघन्य; उनका सर्वथा अभाव बताना इष्ट नहीं है। बन्ध के प्रकरण में ऐसा कहा जाना न्याय-संगत है क्योंकि एक समय मात्र स्थिति को बन्ध संज्ञा प्राप्त नहीं है। कारण कि एक समय की पर्याय शुद्ध द्रव्यों में ही होती है परस्पर संश्लिष्ट अथवा बद्ध अशुद्ध द्रव्यों में नहीं। ❑

७.कारण-कार्य सम्बन्ध

१. निमित्त कारण; २. निमित्त-नैमित्तिक भाव।

१. निमित्त कारण—पीछे वाले अधिकार में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि कर्म नाम कार्य का है। कार्य चिदचिदात्मक होने के कारण पर्याय-स्वरूप है। पर्याय जड़ व चेतन दोनों ही पदार्थों में पाई जाती है। अत: कर्म के दो भेद हो जाते हैं पुद्गल कर्म या द्रव्य-कर्म और जीव-कर्म या भाव कर्म। कार्य सदा कारण-सापेक्ष होता है। वे कारण दो प्रकार के होते हैं—उपादान व निमित्त। यह वस्तु स्वभाव वाले अधिकार में बताया जा चुका है। उपादान कारण का कथन अब तक किया गया । अब निमित्त कारण की बात चलती है। निमित्त कारण भिन्न पदार्थों के किसी उचित संयोग विशेष को कहते हैं। अकेला पदार्थ निमित्त नहीं कहलाता, बल्कि उचित रीति से संयोग को प्राप्त दो पदार्थों में ही निमित्त-नैमित्तिकपने का व्यवहार होता है। केवल दो पदार्थों का सानिध्य या एक क्षेत्र-अवस्थिति भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का कारण नहीं है, बल्कि उनका कोई विशिष्ट प्रकार का संयोग जिसके द्वारा कि एक के कार्य में दूसरे के प्रभाव या सहायता की अपेक्षा पड़े वही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। उस पदार्थ का संयोग न हो तो वह कार्य भी न हो, इस प्रकार की व्यतिरेक-व्याप्ति के द्वारा उसकी सिद्धि होती है, जैसे कि घड़े की उत्पत्ति में कुम्हार।

विशिष्ट संयोग को प्राप्त होने वाले दो या अनेक पदार्थों में से वह पदार्थ जिसमें कि कार्य प्रकट होता है, उपादान कहलाता है, शेष एक या अनेक पदार्थ जिनकी सहायता की अपेक्षा के बिना वह कार्य होना असम्भव है वह निमित्त है, और वह कार्य उसका नैमित्तिक है। अर्थात् 'निमित्त' नाम कारण का है और 'नैमित्तिक' उस कार्य का जोकि किसी विवक्षित पदार्थ में उस निमित्त की सहायता से उत्पन्न हुआ है। उपादान नाम उस विवक्षित पदार्थ का है जोकि स्वयं उस कार्य या पर्याय के रूप में परिणत हुआ है, जैसे घटकी उत्पत्ति में कुम्हार, चक्र, चीवर आदि निमित्त हैं, घट नैमित्तिक है और मिट्टी उपादान है। इस पर से यह जान लेना चाहिए कि किसी भी विवक्षित कार्य का उपादान तो केवल एक ही होता है परन्तु निमित्त एक भी हो सकता है और अनेक भी।

कारण-कार्य के इस सिद्धान्त में इतना अवधारण अवश्य कर लेना चाहिए कि पर्याय का एकार्थवाची वह कार्य दो प्रकार का होता है—शुद्ध व अशुद्ध। असंयोगी शुद्ध द्रव्य में प्रति समय होने वाला सूक्ष्म परिणमन शुद्ध-कार्य है, और अनेक सजातीय या विजातीय द्रव्यों के संश्लेष बन्ध से उत्पन्न अशुद्ध द्रव्य में, स्थूल रूपेण व्यक्त होने वाली अर्थ व व्यञ्जन पर्यायें अशुद्ध कार्य हैं। शुद्ध कार्य तो सर्वथा

स्वाभाविक होने से निमित्तों की अपेक्षा नहीं करता, परन्तु अशुद्ध कार्य तीन काल में भी निमित्तों के बिना उत्पन्न नहीं होता। सहज तथा स्वाभाविक हो तो उसे अशुद्ध ही न कहें, क्योंकि संयोग से ही पदार्थ अशुद्ध होता है। जैसा कि पहले बन्ध के प्रकरण में बताया जा चुका है, बन्ध को प्राप्त पुद्गल व जीव दोनों ही नियम से अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर किसी विजातीय भाव को धारण कर लेते हैं। इसे ही वैभाविक परिणमन कहते हैं। उनका कोई भी कार्य क्यों न हो व प्रदेश-परिस्पन्दन रूप हो या भावात्मक, निमित्त की सहयता लेकर ही उत्पन्न होता है।

निमित्त भी दो प्रकार का होता है—संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त जैसे कि स्कन्ध में परमाणु या जीव में शरीर, और दूसरा केवल बाह्य का संयोग-विशेष जैसे कि घटोत्पत्ति में कुम्हार। इनमें से पहले की विशेषता का कथन बन्ध-अधिकार में कर दिया गया है, और दूसरे की विशेषता ऊपर दर्शा दी गई है। कर्म-सिद्धान्त का सम्बन्ध इन दोनों ही प्रकार के निमित्तों से है क्योंकि जैसा कि आगे 'द्रव्य कर्म-बन्ध' के क्रम में बताया जाने वाला है जीव के योग का अर्थात् प्रदेश-परिस्पन्दका निमित्त पाकर कार्मण-वर्गणायें उसके प्रति स्वतः आकर्षित हो जाती हैं, और इधर-उधर से गतिमान होती हुई उस जीव के प्रदेशों में प्रवेश करके, द्रव्य-कर्म के रूप में परिणत हो संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं। इसी प्रकार उसी के निमित्त से आहारक वर्गणायें भी नोकर्म के रूप में परिणत होकर उसके शरीर में बन्ध जाती हैं। जीव के उपयोग का अर्थात् मोह-राग-द्वेषात्मक भाव कर्म का निमित्त पाकर वे द्रव्य-कर्म तथा नोकर्म अनुभाग तथा स्थिति को धारण करके कुछ काल पर्यन्त उसी अव्यक्त अवस्था में जीव के साथ बन्धे रहते हैं। यह स्थिति पूर्ण होने पर द्रव्य कर्म परिपाक दशा को प्राप्त होकर उदय में आता है अर्थात् फलोन्मुख होता है, जिसका निमित्त पाकर जीव में योग तथा उपयोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म और द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म की यह अटूट निमित्त-नैमित्तिक शृंखला अनादि काल से चली आ रही है। द्रव्य-कर्मोदय के निमित्त बिना जीव में योग उपयोग या भाव कर्म, तथा भाव कर्म के निमित्त बिना द्रव्य-कर्म व नोकर्म रूप शरीर-निर्माण असम्भव है, क्योंकि ये तीनों प्रकार के कर्म जीव व पुद्गल के अशुद्ध कार्य हैं।

२. निमित्त-नैमित्तिक भाव—मूर्त पुद्गल व अमूर्त जीव का परस्पर बन्ध कैसे सम्भव है, इसका समाधान पहले 'जीव परिचय' अधिकार में किया जा चुका है। यहाँ उन दोनों में पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक भाव की सिद्धि करता हूँ। देखिये संयोग को प्राप्त पृथक् पड़े जो धन धान्यादि पदार्थ, उनका अथवा संश्लेष को प्राप्त शरीर का जो प्रभाव हम सभी के जीवन पर पड़ता हुआ नित्य प्रतीति में आ रहा है, उसे कौन इंकार कर सकता है। यदि इनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध न होता तो हमारी चित्त-वृत्तियाँ कभी भी इनके प्रति आकर्षित न होती और शरीर में विकार या रोग आदि होने पर

कभी दुःख न होता। इससे जाना जाता है कि मूर्तीक पुद्गल में अवश्य ही अमूर्तीक जीव के भावों को आकर्षित करने की सामर्थ्य विद्यमान है। इसी प्रकार स्त्री पुत्रादि चेतन पदार्थों के साथ भी आपका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अवश्य है, अन्यथा उनके दुःख में दुःखी और सुख में सुखी आप कैसे होते। किसी भी क्रोधी व्यक्ति को देखकर आप में भय और वीतरागी को देखकर स्वाभाविक प्रेम व भक्ति क्यों होते। इससे जाना जाता है कि जीव का भी जीव के भावों के साथ सम्बन्ध अवश्य है।

इस प्रकार पुद्गल का जीव के भावों पर और अन्य जीव का अन्य जीव के भावों पर प्रभाव या निमित्त-नैमित्तिक भाव स्पष्ट है। परन्तु जीव के चेतन तथा अमूर्तिक भावों का जड़ तथा मूर्तिक पुद्गल पर प्रभाव कैसे सम्भव हो सकता है, यह प्रश्न है; अर्थात् जीव के भाव मात्र से जड़ वर्गणायें कैसे आकृष्ट हो सकती हैं, यह प्रश्न है। आज के वैज्ञानिक युग में इसकी सिद्धि भी कठिन नहीं है। आगमोक्त इन्द्रजाल विद्या तथा गारुडी विद्या के द्वारा जीव अपने अमूर्तीक भावों के द्वारा चित्र-विचित्र आश्चर्यकारी दृश्य दिखा सकता था, बे मौसम वृक्ष लगा सकता था तथा फूल खिला सकता था, और दूर देशस्थ अदृष्ट सर्प को पकड़कर बुला सकता था। मोहिनी विद्या के द्वारा भाव मात्र से किसी जीव को मूर्च्छित कर देना तथा उच्चाटन, वशीकरण, रोग-प्रशमन आदि चित्र-विचित्र कार्य करना भारत में प्राचीन काल से आज तक प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। भले ही आज वह विद्या लुप्तवत् हो गई हो, परन्तु श्रुतियों से तथा दन्त-कथाओं से उनकी सत्यता सिद्ध होती है, क्योंकि श्रुतियाँ सर्वथा मिथ्या नहीं होतीं, उनमें कुछ न कुछ सत्य अवश्य होता है। आज के हिप्नोटिज़्म विज्ञान में भी जीव अपने भावों मात्र की सामर्थ्य से किसी दूर देशस्थ जड़ वस्तु को अपने पास मंगा लेता है, अथवा पास वाली वस्तु को दूर भेज देता है, अथवा मनुष्यादि को मूर्च्छित कर देता है, उनके मुखसे जो चाहे कहला देता है, उनके शरीर को पृथ्वी से ऊपर अधर आकाश में टिका देता है इत्यादि। यद्यपि इस प्रकार के खेल नकलची बाजीगर भी दिखाते फिरते हैं परन्तु उनकी यहाँ बात नहीं है। हिप्नोटिज़्म के विशेषज्ञ बिना किसी धोखेबाजी के यह सब कुछ करने को समर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त भी अनेकों दृष्टान्त ऐसे देखने सुनने को या समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं जिन पर से एक जीव के भाव का दूसरे जीव के भाव पर प्रभाव पड़ना सिद्ध हो जाता है। दृढ़ प्रेम के बन्धन में बद्ध दूर देशस्थ दो पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के बीच परस्पर ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध कदाचित् पाया जाता है कि एक के याद करने पर अथवा किसी भी संकट में पड़ जाने पर, तत्क्षण स्वतः या स्वप्नादि के द्वारा दूसरे को ऐसी प्रतीति हो जाती है, जिससे कि उसे स्पष्ट पता चल जाये कि दूर देशस्थ उसका वह प्रेमी मित्र या बन्धु-बान्धव उस समय उसे याद कर रहा है या उससे मिलने को चल पड़ा है या किसी संकट में फंस गया है। अगले ही दिन पत्र या टेलीफोन

द्वारा उपरोक्त प्रतीति की सत्यता का विश्वास भी उसे हो जाता है । इन सब विज्ञानों तथा दृष्टान्तों का आधार वास्तव में वह मन है जो यद्यपि सूक्ष्म होने के कारण अदृष्ट है, तदपि जिसमें बाहर के जड़ पदार्थों को प्रभावित करने की एक विचित्र सामर्थ्य है । इस पर से जाना जाता है कि जीव के अमूर्तीक भावों में, बाह्य जड़ पदार्थों पर अथवा अन्य जीव के अमूर्तीक भावों पर निमित्त रूप से प्रभाव डालने की सामर्थ्य अवश्य है ।

इसके अतिरिक्त भी जीव की इच्छा का निमित्त पाकर हाथ पाँव आदि का चालित होना तथा इच्छावान कुम्भकार के द्वारा घट पट आदि पदार्थों की उत्पत्ति का होना, जड़ तथा चेतन दोनों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव को सिद्ध करता है । अन्य भी अनेकों दृष्टान्त उपलब्ध हैं जिन पर से कि जीव के अमूर्तीक भावों का पुद्गल के मूर्तीक भाव पर प्रभाव पड़ना सिद्ध होता है । जैसे कि भौतिक जड़ विषयों के सेवन से जीव के भावों में सुख दु:ख की प्रतीति का होना, सुन्दर व असुन्दर वस्तुओं के प्रति ग्रहण व त्याग का भाव जागृत होना, इष्टानिष्ट जड़ शब्दों के श्रवण मात्र से प्रेम व क्रोधादि उत्पन्न होना, मद्यपान से पागल हो जाना अथवा क्लोरोफार्म सूंघने से अचेत हो जाना इत्यादि । उपरोक्त कथन पर से यह जाना जाता है कि जीव यद्यपि अमूर्तीक है तदपि मूर्तीक पदार्थों के साथ इसका निमित्त-नैमितिक सम्बन्ध अवश्य है। कर्म-सिद्धान्त का आधार जीव तथा पुद्गल का यह पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही है जो वस्तु स्वभाव के आश्रित है, किसी ईश्वरीय व्यवस्था के आधीन नहीं ।

❑

योगी सबको शान्ति प्रदान करके जीता है योगी के अन्दर शान्ति का सौम्य संवाद होता है । योगी के मुखमण्डल पर मुस्कान और आशा होती है । योगी का वर्तमान और भविष्य आशा पूर्ण होता है । योगी अपने शरीर को सेवक बनाकर ज्ञान तथा ध्यान की साधना में रत होता है और अन्त में शरीर को भी सल्लेखना महाव्रत द्वारा त्याग कर प्रकाश की ओर गमन कर जाता है ।

८.प्रकृति बन्ध

१. विस्रसोपचय; २. कर्म प्रकृति; ३. घाति-अघाति विभाग; ४. अष्ट प्रकृति विभाग।

१. विस्रसोपचय—'पुद्गल-परिचय' वाले अधिकार में बताया गया है कि स्निग्ध-रूक्ष भाव के कारण परमाणु परस्पर में बन्ध कर पाँच वर्गणाओं का रूप धारण कर लेते हैं। ये सूक्ष्म वर्गणायें लोकाकाश में एक-एक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त स्थित हैं। जिस क्षेत्र में अथवा जिन प्रदेशों पर इस समय आप स्थित हैं उन पर भी वे पाँचों हैं और यहाँ से उठकर अन्यत्र चले जायेंगे वहाँ भी ये अवश्य हैं। तात्पर्य यह है कि आप कहीं भी बैठे हों, खड़े हों या सोते हों आपके अपने प्रदेशों में वे वर्गणायें भी स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहती हैं क्योंकि आपके आत्म प्रदेशों के साथ किन्हीं आकाश-प्रदेशों का सम्बन्ध अनिवार्य है। जिन किन्हीं आकाश प्रदेशों पर उस समय आपके प्रदेश होंगे उन्हीं वाली वर्गणाओं की स्थिति आपके प्रदेशों पर भी स्वतः हो जायेगी। ये वर्गणायें एक क्षेत्रावगाह रूप से केवल वहाँ रहती ही हैं, परन्तु बन्ध को प्राप्त न होने के कारण उनका कोई भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध आपके साथ नहीं है। स्वतन्त्र रूप से जीव प्रदेशों में अवस्थित ये वर्गणायें 'विस्रसोपचय' कहलाती हैं। यद्यपि इन्हीं में आहारक वर्गणायें भी हैं और कार्मण वर्गणायें भी, परन्तु बिना बन्ध को प्राप्त हुए न वे शरीर कहलाती हैं और न द्रव्य-कर्म। पूर्व अधिकार में वर्णित जीव के भावों का निमित्त पाकर ये विस्रसोपचय ही द्रव्य कर्म या नोकर्म रूप से परिणत होते हैं, तद्व्यतिरिक्त अन्य वर्गणायें नहीं। जीव प्रदेशों पर पहले से एक क्षेत्रावगाह रूप से रहने वाली इन विस्रसोपचय वर्गणाओं का कर्म तथा नोकर्म रूप से परिणत हो जाना ही उनका आकृष्ट होना है, अन्यत्र से खिंचकर आती हों ऐसा नहीं है।

द्रव्य-कर्म का रूप धारण करके वे वर्गणायें ही शरीर के रूप में जीव के साथ एकमेक हो जाती हैं, और इस प्रकार भीतर में एक सूक्ष्म शरीर का निर्माण करती हैं, जिसे जैन-दर्शनकार कार्मण शरीर कहते हैं। वैदिक दर्शनकार इसे ही सूक्ष्म या लिंग शरीर तथा अन्य दर्शनकार छाया शरीर कहते हैं। यही जीव का मूलभूत शरीर है। क्योंकि जन्म के कारण बाह्य का स्थूल शरीर जिस प्रकार सारा का सारा नवीन बन जाता है और मृत्यु के कारण सारा का सारा छूट जाता है इस प्रकार यह न नवीन कुछ बनता है और न छूटता है। यह अनादि काल से जीव के साथ बन्धा आ रहा है। यद्यपि इसमें से प्रतिक्षण कुछ पुराने प्रदेश झड़ते रहते हैं और कुछ नये मिलते रहते हैं, तदपि सन्तान-क्रम से यह ध्रुव है। जीव के बाह्य शरीरों का अथवा रागादि भावों का प्रेरक तथा प्रोहक यह ही है। अतः यही मूल संसार है और इसका नाश ही मोक्ष है। प्रत्येक मुमुक्षु को इसका परिचय पाने के लिये करणानुयोग की शरण लेना आवश्यक है।

२. कर्म प्रकृति—जैसा-जैसा चित्र-विचित्र योग तथा उपयोग जीव करता है, उसके निमित्त से वैसी वैसी ही चित्र-विचित्र शक्तियाँ या प्रकृतियाँ उस कार्मण शरीर में पड़ जाती हैं। कुछ वर्गणायें किसी एक प्रकृतिको और कुछ किसी अन्य प्रकृति को धारण कर लेती हैं। जिस प्रकार एक ही वृक्ष काष्ठ, पत्र, पुष्प, फल आदि के रूप में अनेक जातीयता को प्राप्त हो जाता है, अथवा जिस प्रकार एक ही यह स्थूल शरीर हाथ पाँव आदि के रूप में चलने, फिरने, बोलने, ग्रहण करने देखने, सुनने आदि रूप अनेक शक्तियों को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार एक ही यह कार्मण शरीर विभिन्न प्रकृतियों को प्राप्त होकर अनेक अंगों या भेदों वाला हो जाता है।

यद्यपि कर्म तथा उसके प्रकृति स्थिति आदि विशेष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं हैं, तदपि उनके निमित्त से होने वाले कार्य अर्थात् अपने अन्तरंग भाव, शरीर, तथा संयोग वियोग आदि सभी के प्रत्यक्ष हैं। इन पर से उसकी कारणभूता प्रकृतियों का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि कार्य पर से कारण का अनुमान करना न्याय संगत है। जैसे-जैसे तथा जितने कुछ भी भाव व संयोग आदि हैं; वैसी-वैसी तथा उतनी ही प्रकृतियाँ होनी चाहिए। अत: उन्हें जानने से पहले हमें उन भावों तथा कार्यों को जानना चाहिए। विचार करने पर आठ प्रधान भाव या कार्य प्रतीत होते हैं जिनके उत्तर विभाग १४८ हैं और विस्तार करने पर अनन्त हैं। अत: द्रव्य कर्म की मूल प्रकृतियाँ ८ और उत्तर प्रकृतियाँ १४८ मानी गई हैं। उपादान या वस्तु स्वभाव की भाषा में प्रत्येक प्रकृति का कथन करना बहुत कठिन है, अत: कर्म सिद्धान्त में सर्वत्र निमित्त की भाषा का प्रयोग प्रधान रहा है।

३. घाती-अघाती विभाग—जैसा कि पहले बताया गया है जीव पदार्थ द्विरूप है—द्रव्यात्मक तथा भावात्मक। अत: उसके विकार भी दो प्रकार के हैं—द्रव्य-विकार या प्रदेश-विकार और भाव-विकार। बाह्य संयोग द्रव्यात्मक ही होता है भावात्मक नहीं, इसलिए प्रदेश-विकार का अथवा बाह्य संयोग वियोग का कोई भी तात्त्विक सम्बन्ध जीव के भावों के साथ नहीं है। उनसे जीव के मूल भावात्मक स्वरूप में कोई क्षति या घात होना सम्भव नहीं है। यथा जीव का आकार छोटा हो या बड़ा, शरीर कृश हो या पुष्ट, काला हो या गोरा, धनवान हो या निर्धन, यदि मोह या मिथ्यात्व नहीं है तो राग द्वेषात्मक भाव-विकार सम्भव नहीं, और न ही ज्ञान की हानि वृद्धि। अत: उसकी निमित्तभूता प्रकृति को अघातिया कहा जाता है। भाव-विकार की निमित्तभूता प्रकृतियों का कार्य क्योंकि जीव के भावों को आच्छादित या विकृत करना है, इसलिए वे घातियाँ कही गई हैं। घातिया तथा अघातिया ये दोनों ही चार-चार प्रकार की हैं, जिनका कथन आगे किया जाएगा।

जीव के अन्तरंग भावों का या शुद्ध स्वभाव का घात करने से घातिया की सभी मूल तथा उत्तर प्रकृतियाँ अशुभ अथवा पाप रूप मानी जाती हैं परन्तु अघातिया में दो विभाग हैं—शुभ तथा अशुभ अथवा पुण्य तथा पाप। पुण्य प्रकृतियों का फल इष्ट शरीर, इष्ट आयु तथा इष्ट भोगों का संयोग कराना है और पाप प्रकृतियों का अनिष्ट शरीर, अनिष्ट आयु तथा अनिष्ट भोगों का। विस्तार आगे यथास्थान यथा-प्रसंग आता रहेगा। इसे ही अन्यत्र 'प्रारब्ध' कहा जाता है।

४. अष्ट प्रकृति विभाग—संक्षिप्त परिचय देने के लिए यहाँ मूल आठ प्रकृतियों का निर्देश करना योग्य है । जीव के अन्तरंग भाव मुख्यत: चार कोटियों में विभाजित किये जा सकते हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य । अन्तरंग के सामान्य प्रतिभास मात्र को अथवा अन्तर्चित्प्रकाश को 'दर्शन' कहते हैं । ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय के विकल्प से विशेष आकार प्रकारों को जानना 'ज्ञान' है जिसे बाह्य-चित्प्रकाश भी कहा गया है । निर्विकल्प ज्ञाता द्रष्टा भाव अथवा समता तथा शमता (प्रशान्ति) ही 'सुख' शब्द का वाच्य है और चित्-शक्तियों की निर्विकल्पता अचञ्चलता या स्थिरता उसका वीर्य है । अधिक विस्तार यहाँ सम्भव नहीं ।

इन चार भावों को आच्छादित या विकृत करने वाली घातिया प्रकृतियाँ भी उनके अनुरूप ही चार हो जाती हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय । ज्ञान को आच्छादित करके उसके प्रकाश को घटा देने वाली प्रकृति ज्ञानावरण कहलाती है और इसी प्रकार दर्शन को आवृत करके उसे घटाने वाली दर्शनावरण, समता तथा शमता को विकृत करके राग द्वेष उत्पन्न कराने वाली मोहनीय और चित्-शक्तियों में विघ्न की कारणभूता अन्तराय नामक प्रकृति है ।

इसी प्रकार शरीर, आयु तथा भोग-सम्पादन की कारणभूता अघातिया प्रकृति भी चार प्रकार की है—नाम, आयु, गोत्र तथा वेदनीय । नरक आदि चार गतियों में, एकेन्द्रियादि पाँच जाति के, सुन्दर असुन्दर, बलिष्ठ निर्बल, शुभ अशुभ, अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र रंग-बिरंगे, पृथ्वी, जल, अग्नि व वनस्पति से लेकर मनुष्य पर्यन्त के शरीरों का निर्माण करने वाली, कलाकार या चितेरी प्रकृति 'नाम कर्म' संज्ञा को प्राप्त होती है । नरक आदि चार गतियों में या शरीरों में किसी निश्चित काल पर्यन्त जीव द्रव्य को रोक रखने वाली 'आयु' नामक प्रकृति है, उन शरीरों में ऊँच-नीचपने का व्यवहार कराने वाली 'गोत्र' प्रकृति है, और इष्टानिष्ट बाह्य विषयों का या भोगों का संयोग-वियोग कराने वाली 'वेदनीय' प्रकृति है । तहाँ इष्ट शरीर, इष्ट कुल तथा इष्ट भोगों को प्राप्त कराने वाली प्रकृति का नाम साता है और अनिष्ट शरीर, अनिष्ट कुल तथा अनिष्ट भोगों को प्राप्त कराने वाली प्रकृति का नाम असाता है । जीव के स्वभाव को घात करने के कारण ज्ञानावरणादि उपरोक्त चारों घातिया प्रकृतियाँ अशुभ ही होती हैं शुभ नहीं ।

इनमें भी यद्यपि वेदनीय को अघातिया में गिना दिया गया है, परन्तु वह सर्वथा अघातिया नहीं है क्योंकि उसके दो कार्य हैं—विषय भोगों का संयोग-वियोग कराना और उस संयोग-वियोग के निमित्त से दु:ख-सुख की प्रतीति या वेदन कराना । परन्तु वेदन वाला यह कार्य मोह के साथ रहने पर ही सम्भव है, इसलिए मोही जीवों में उसके दो कार्य उपलब्ध होते हैं और वीतरागियों में केवल एक । क्योंकि सुख-दु:ख का वेदन चेतन भाव है जड़ शरीर का कोई संयोगी भाव नहीं, इसलिए अघातिया होते हुए भी इसे घातीयावत् माना जाता है । इतनी विशेषता इस प्रकृति के सम्बन्ध में जानना । ❑

९.मोहनीय प्रकृति

१. मोहनीय; २. दर्शन मोहनीय; ३. चारित्र; ४. चारित्र मोहनीय; ५. गुण विकास क्रम; ६. २८ प्रकृति।

१. मोहनीय—इन आठों प्रकृतियों में से मोहनीय नाम की तीसरी प्रकृति मोक्ष मार्ग के प्रकरण में प्रधान है; क्योंकि संसार का मूल कारण वही है, और उसी का विच्छेद हो जाने पर जीव मुक्त होता है। अत: उसका कुछ विशेष कथन करना आवश्यक है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संसार का या मानसिक वेदनाका कारण राग-द्वेषादि भाव-कर्म है। राग-द्वेषादि की उत्पत्ति का आधार एक मात्र श्रद्धा है क्योंकि उसके कारण ही बाहर के भौतिक विषयों को सुख-दुख का कारण माना जाता है। ज्ञान व दर्शन आदि की हीनता से जीव को कोई हानि नहीं होती अथवा वीर्य में कुछ कमी हो जाने से भी कुछ विशेष बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि इतना ज्ञान दर्शन तथा वीर्य फिर भी जीव में बना रहता है जितने से कि वह अपना लौकिक या पारमार्थिक प्रयोजन सिद्ध कर सके। दूसरी बात यह भी है कि जीव की ये तीनों शक्तियाँ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के प्रभाव से कम तो अवश्य हो जाती हैं, परन्तु विकृत नहीं होती। बन्धन में डालने वाले भाव रागादिक ही हैं, क्योंकि ये स्वयं विकार स्वरूप हैं। ज्ञानादि को विकृत करके उनको भी अन्तरंग तत्त्व के दर्शन करने की आज्ञा ये नहीं देते हैं। इसीलिये इन भावों को मूर्च्छा या मोह या अज्ञान कहा जाता है। मोह दो प्रकार का है—श्रद्धारूप तथा प्रवृत्ति-रूप। श्रद्धा अन्दर में रहने वाली किसी धारणा-विशेष का नाम है, जिसके कारण व्यक्ति की प्रवृत्तियों में अन्तर पड़ा करता है, जैसे 'भोगों में सुख है' ऐसी श्रद्धावाला कभी भी धर्म की ओर नहीं झुक सकता। प्रवृत्तियाँ तो बाहर में दिखाई दे जाती हैं परन्तु उनकी मूलभूता श्रद्धा अदृष्ट रहती है, जिसका अनुमान उन प्रवृत्तियों पर से ही किया जा सकता है। श्रद्धा को दर्शन और प्रवृत्ति को चारित्र कहते हैं। इसलिये इनकी निमित्त-भूता मोहनीय प्रकृति भी दो रूप है—दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय।

२. दर्शन मोहनीय—मोक्ष मार्ग की अपेक्षा श्रद्धा दो जातियों में विभक्त है—मिथ्या तथा सम्यक्। समस्त लौकिक जीवों की श्रद्धा तत्त्व विमुख होने के कारण मिथ्या है परन्तु कुछ विरले व्यक्तियों को बड़े सौभाग्य तथा सत्पुरुषार्थ से सम्यक् श्रद्धा की प्राप्ति होती है। 'मैं कौन हूँ, चेतन आत्मा या जीव क्या है, उसका अनुभवगम्य भावात्मक रूप क्या है' ऐसे तात्त्विक विवेक से शून्य संसारी जीव अन्तरंग में प्रकाशमान परम पवित्र तथा शान्त सुन्दर उस तत्त्व का वेदन न होने के कारण शरीर, आयु व भोगों में ही मैं तथा मेरे पन की कल्पना करते हैं और उनमें ही

इष्टानिष्ट बुद्धि रखते हैं। उनका उपभोग करने में सुख मानते हैं और उनके वियोग में दुःख। उन्हीं की महिमा का गान करते हैं, और उन्हीं की प्राप्ति के लिए अपना सर्व पुरुषार्थ उँडेलते हैं। उनके पीछे सत्य-असत्य तथा न्याय-अन्याय का भी विवेक खो देते हैं, परम तृप्तिकर अन्तरंग चैतन्य विलासके प्रति एक क्षण को भी नहीं झुकते।

"बाह्य विषयों में ही सुख है, यह दृष्ट शरीर ही मैं हूँ, इसके बिना मेरी स्थिति सम्भव नहीं, स्त्री पुत्रादि अथवा धन धान्यादि ही मेरी सम्पत्ति है" ऐसी श्रद्धा रहने के कारण, तत्त्वोपदेश मिलने पर भी उनकी बुद्धि तथा पुरुषार्थ उधर से हट कर अन्तस्तत्त्व की ओर नहीं झुकते, भले ही मुख से उस उपदेश को सत्य व कल्याणमय कहते रहें। उनकी वह श्रद्धा इतनी अटल होती है कि चौबीस घण्टों की अपनी प्रवृत्ति में तनिक सा भी हेर फेर करने को वे तैयार नहीं। वे पूजा आदि धार्मिक क्रियायें कर लेते हैं, परन्तु बेकार समझकर अथवा आगामी भवों में उन्हीं भोगों की प्राप्ति के लिए। शास्त्र पढ़ते हैं, दूसरों को उपदेश भी देते हैं, परन्तु अन्तरंग का झुकाव उन भोगों के प्रति ही रहता है।

यदि किसी के कहने सुनने से वैराग्य भी आया अथवा भोगों आदि का त्याग भी किया, व वनवासी भी बन गया, कठोर तपश्चरण भी किए, तो भी अन्तरंग का उपयोग अन्तस्तत्त्व की ओर नहीं झुकता। या तो उस त्याग आदि को ही धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाता है और या "मैं इस त्याग को कैसे बढ़ाऊँ, कैसे अधिक से अधिक तप की शक्ति जागृत करूँ" इत्यादि प्रकार के विकल्पों में उलझा रहता है, समता तथा शमता की ओर नहीं झुकता। 'मोक्ष ऐसा सुन्दर तथा सुखकर है, मेरा मार्ग ही सच्चा है, अन्यमत-मान्य मार्ग झूठे हैं' इत्यादि प्रकार के विकल्प करता है। 'इतना तो मैंने सफलतापूर्वक कर लिया, अब यह व्रत और लूँगा, और इस बाधा को भी टालकर सर्वथा निर्बाध हो जाऊँगा, तब आनन्द में स्थिति करूँगा', इत्यादि प्रकार के संकल्प करता रहता है। तात्पर्य यह कि सदा बाह्य के विषयों का ही विकल्प करता है, कभी विधि रूप से और कभी निषेध रूप से। सर्व विकल्पों से शून्य उस परम तत्त्व की ओर न झुकने के कारण समता तथा शमता-रूप परम चारित्र से सदा वंचित रहता है। 'विषयों का त्याग ही इष्ट है' ऐसी श्रद्धा के कारण उसका वैराग्य भी मिथ्या है।

अन्तस्तत्त्व की प्रतीति से शून्य, भोगों तथा विषयों के सद्भाव में या उनके अभाव में ही इष्ट अनिष्ट की कल्पना करने वाली श्रद्धा मिथ्या है। निज स्वरूप के प्रति मूर्च्छित होने के कारण उसे मोह कहते हैं। श्रद्धा दर्शन-वाचक है, इसलिए इस मिथ्या श्रद्धा रूप मोह को 'दर्शन-मोह' कहा गया है, और उसकी निमित्तभूता कर्म-प्रकृति को 'दर्शन मोहनीय' कहते हैं। इसका उपशम या क्षय हो जाने पर अन्तस्तत्त्वोन्मुखी सम्यक् श्रद्धा जागृत होती है।

३. चारित्र—यद्यपि व्यवहार भूमि पर अशुभ विषयों का त्याग और शुभ विषयों का ग्रहण अथवा व्रत, त्याग, तप आदि चारित्र के नाम से प्रसिद्ध हैं, तथापि ये वास्तव में चारित्र नहीं, उसे प्राप्त करने के साधन हैं। चारित्र हमारा स्वभाव है जिसका स्वरूप समता है। बाह्य विषयों में मैं मेरा, तू तेरा, अथवा इष्ट-अनिष्ट, ग्राह्य-त्याज्य आदि के विकल्प करना मोह है। यही परमार्थतः मिथ्या दर्शन है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके कारण से अन्तरंग में निरन्तर विकल्पों तथा कषायों की भगदड़ मची रहती है। अन्तरंग की यह भगदड़ 'क्षोभ' शब्द का वाच्य है, और स्वभाव से विपरीत होने के कारण यही मिथ्या चारित्र है। यही चित्तगत अशान्ति है। मोह के अभाव से समता उदित होती है। जिसमें न कुछ मेरा है न तेरा, न इष्ट न अनिष्ट, न ग्राह्य न त्याज्य। इसी प्रकार क्षोभ के अभाव से शमता प्रकट होती है। चित्त की विश्रान्ति उसका स्वरूप है। मोह तथा क्षोभ से विहीन समता तथा शमता युक्त परिणाम ही परमार्थतः सम्यक् चारित्र शब्द का वाच्य है, जिसे शास्त्रों में वीतरागता, शुद्धोपयोग, माध्यस्थता, ज्ञाता द्रष्टा भाव आदि संज्ञाओं से विभूषित किया जाता है।

"चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥"

इस स्थिति को हस्तगत करने के लिए वासनाओं का त्याग, और वासनाओं का त्याग करने के लिए बाह्य विषयों का त्याग करना यद्यपि साधक की आद्य भूमिका में अत्यन्त आवश्यक होता है; परन्तु यह चारित्र नहीं चारित्र का साधन है, जिस प्रकार कि औषधि स्वास्थ्य नहीं है, स्वास्थ्य-प्राप्ति का साधन है। जिस प्रकार स्वास्थ्य प्राप्त हो जाने पर औषधि का त्याग हो जाता है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों समता तथा शमता में प्रवेश होता जाता है त्यों-त्यों बाह्य विषयों का त्याग भी ढीला पड़ता जाता है, यहाँ तक कि समता की पूर्णता हो जाने पर उस त्याग का भी त्याग हो जाता है। शास्त्रों में इस त्याग के त्याग को अमृत कुम्भ कहा गया है।

"अप्पडिकम्मणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा गरहा, सोही अमय कुंभो॥"

इस रहस्य का भान न होने के कारण ही आज का साधक ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता है त्यों-त्यों बाह्य त्याग को ढीला करने की बजाय अधिक-अधिक कठोर करता जाता है। यह सब मोहका ही कोई अचिन्त्य माहात्म्य है। यही कारण है कि मिथ्या श्रद्धा वाले व्यक्ति की सभी लौकिक अथवा धार्मिक प्रवृत्तियाँ विकल्पों तथा कषायों से युक्त होने के कारण मिथ्या चारित्र है और सम्यक् श्रद्धा वाले व्यक्ति की वही प्रवृत्तियाँ समता तथा शमता से युक्त होने के कारण सम्यक् चारित्र है। मिथ्यात्वी या अज्ञानी व्यक्ति अपनी उपरोक्त मिथ्या श्रद्धा के कारण कभी भी उपरोक्त प्रवृत्ति या त्याग के विकल्पों से पीछे हटना नहीं चाहता, उसे ही इष्ट समझता है और अन्तरंग समता की

ओर नहीं झुक पाता । परन्तु सम्यग्दृष्टि या ज्ञानी उससे विपरीत प्रवृत्ति वाला होता है । उसकी मूल साधना न भोगों में प्रवृत्ति करना है और न उनको त्यागने के विकल्पों में उलझना है । बाह्य के विषय उसे न विधि रूप से इष्ट हैं और न निषेध रूप से । या यों कह लीजिए कि उनकी ओर से आँखे मूँदकर, मात्र समता युक्त प्रशान्ति में स्थित रहने के प्रति ही उसकी सर्व साधना या पुरुषार्थ है । भले ही पूर्व संस्कारों का वेग रुक न पाने से वह अभी पूर्णतया वैसा होने के लिये समर्थ न हो, पर उसका अन्तरंग झुकाव सदा इसी ओर रहता है । इसीलिये वह साधक कहलाता है और पूर्ण हो जाने पर वही सिद्ध नाम पाता है ।

इस प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि साधक दशा में पूर्ण वीतराग होने नहीं पाता, और भूमिकानुसार उसमें क्रोधादि विकार अथवा भोगादि की प्रवृत्ति भी पाई जाती है, परन्तु लक्ष्य ठीक हो जाने के कारण आगे या पीछे उसमें से उनका नाश हो जाना अवश्यम्भावी है, इसलिये विकार युक्त भी उसके चारित्र को उपचार से सम्यक्-चारित्र कहते हैं । इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि की उपरोक्त वैराग्यपूर्ण प्रवृत्ति भी मिथ्या चारित्र नाम पाती है, क्योंकि लक्ष्य ठीक न होने के कारण वासना रूप से अव्यक्त दशा में स्थित उसके विकारों का नाश कभी भी सम्भव नहीं । चारित्र के विकार हैं राग द्वेष क्रोधादि जिनका कि कथन पहले किया जा चुका है । इस प्रकार श्रद्धा के कारण ही चारित्र मिथ्या तथा सम्यक् नाम पाता है, परन्तु विकारों की तरतमता की अपेक्षा उसे अनेकों भूमिकाओं में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं ।

४. चारित्र मोहनीय—चारित्र के उपरोक्त विकारों में निमित्त होने वाली कर्म-प्रकृति का नाम चारित्र-मोहनीय है, जो मूलत: दो प्रकार की है और उत्तर भेद करने पर ११ प्रकार, १३ प्रकार अथवा २५ प्रकार की है । वह ऐसे कि विकार दो प्रकार का है, कषाय तथा नोकषाय । जो आत्मा के स्वभाव को कषे या विकृत करे उसे कषाय कहते हैं और ईषत् कषाय को नोकषाय । कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया तथा लोभ । नोकषाय ९ हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद । इन सबका कथन पहले किया जा चुका है । इस प्रकार वह १३ भेद रूप है । स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक वेद को एक सामान्य मैथुन भाव में गर्भित करने पर वह ११ प्रकार की है । सभी भेदों को राग तथा द्वेष इन दो में गर्भित कर देने पर वह दो प्रकार की है । पहले इन्हें राग द्वेष में गर्भित करके दिखाया जा चुका है । क्रोधादि चारों कषाय पृथक्-पृथक् चार-चार विकल्प-वाली हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन । इस प्रकार कषाय १६ और नो कषाय ९ दोनों मिलकर २५ भेद हो जाते हैं । सूक्ष्म रूप से भेद करने पर वे अनन्त रूप धारण कर लेते हैं । इन विकारों की निमित्तभूता 'चारित्र मोहनीय' नाम की कर्म-प्रकृति भी इतने ही प्रकार की जानना । उनका पृथक्-पृथक् स्वरूप नीचे दिया जाता है ।

अनन्त संसार का अनुबन्ध करने वाले भाव अनन्तानुबन्धी कहलाते हैं। निज चैतन्य तत्त्व के अतिरिक्त अन्य जड़ तथा चेतन पदार्थों में स्वामित्व तथा कर्ता-भोक्ता भाव की दृढ़ ग्रन्थि उसका स्वरूप है। यह भाव मिथ्यात्व का सहोदर है। जब तक श्रद्धा मिथ्या है तब तक चारित्र या प्रवृत्ति भी इसी प्रकार की होती है। मिथ्यात्व भाव के जल जाने पर उसके साथ ही यह भी जल जाता है। इसके जल जाने पर सम्यग्दृष्टि को यद्यपि उपरोक्त प्रकार विकारी प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं, पर उसके प्रति निन्दन गर्हण का विशेष भाव अन्तरंग में वर्तने लगता है जो मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। दृढ वासना ही अनन्त संसार या अनन्त अनुबन्ध है, जिसके कारण भोग या विकल्परत अपनी विकारी प्रवृत्ति के प्रति मिथ्यादृष्टि को निन्दन या धिक्कार नहीं वर्तता, और उसका अभाव हो जाने के कारण सम्यग्दृष्टि को वह नित्य वर्तता है। तीव्र कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी नहीं है बल्कि उस सूक्ष्म वासना का नाम है जो हजार बार समझाने पर भी नम्र नहीं होती है। इस भाव से शून्य सम्यग्दृष्टि में भी कदाचित् तीव्र कषाय देखी जाती है और इस भाव से युक्त मिथ्यादृष्टि में कदाचित् अत्यन्त मन्द कषाय पाई जानी सम्भव है। कषाय की तीव्रता-मन्दता के भाव को आगम में 'लेश्या' कहा गया है। अनन्तानुबन्धी आदि के चार भेद वासना काल को दृष्टि में लेकर किये गये हैं। बाहर में कषायरूप कार्य हो या न हो वासना अन्दर में बनी रहती है, कुछ अत्यन्त दृढ़ होती है और कुछ अल्प काल स्थायी। ऐसी दृढ़ वासना जो अनन्त काल में भी न टूट पावे अनन्तानुबन्धी कहलाती है। यही कारण है कि एक बार उत्पन्न हुई भोगासक्ति या क्रोधादि कषाय मिथ्यादृष्टि को भव-भवान्तरों तक बनी रहती है। भोगादि का त्याग कर देने पर भी उसकी वासना का त्याग होने नहीं पाता। इसकी निमित्तभूता कर्म प्रकृति अनन्तानुबन्धी है।

इस वासना का क्षय एकदम नहीं हो जाता बल्कि क्रम से होता है। वासना-क्षय का फल द्विरूप है—एक वासना काल में कमी पड़ने रूप और दूसरा कषायों की तीव्रता में कमी पड़ने रूप। सम्यक्त्व प्रकट हो जाने पर अथवा अनन्तानुबन्धी के टल जाने पर वासना काल अनन्त काल से घटकर छः महीने मात्र शेष रह जाता है। किसी विषय-विशेष के प्रति एक बार आसक्ति या द्वेष हो जाने पर वह आसक्ति या द्वेष अव्यक्त दशा में भी अधिक से अधिक छः महीने टिकता है, इससे अधिक नहीं। दूसरी तरफ यद्यपि भोगों का त्याग नहीं होता परन्तु अपनी प्रवृत्ति के प्रति निन्दन गर्हण निरन्तर बना रहता है। इतना ही उसमें वैराग्य या चारित्र प्रकट हुआ है। भोगों का त्याग या प्रत्याख्यान किंचित् मात्र भी न हो सकने के कारण सम्यग्दृष्टि के इस चारित्र को 'अप्रत्याख्यान' कहते हैं। इसकी कारणभूता प्रकृति ईषत् मात्र भी प्रत्याख्यान को या त्याग को आवृत किये रखने के कारण 'अप्रत्याख्यानावरण' कहलाती है।

अप्रत्याख्यानावरण के टल जाने पर उस साधक का वैराग्य कुछ व्यक्त होता है और वह आंशिक त्याग को अपना लेता है, परन्तु पूर्ण त्याग कर नहीं पाता। उसकी वासना का काल घटकर अब १५ दिन मात्र रह जाता है। पूर्ण त्याग को आवृत किये रखने के कारण इसकी निमित्तभूता प्रकृति को 'प्रत्याख्यानावरण' कहा जाता है। इसका भी अभाव हो जाने पर साधक की वासनाशक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। अब इसका वैराग्य इतना वृद्धिंगत हो जाता है कि वह घरबार छोड़कर साधुका रूप धारण कर लेता है। वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र रह गया है, जिसके कारण कोई भी कषाय बाहर में प्रकट होने नहीं पाती। भीतर में कदाचित् स्फुरित होती प्रतीत भी होती है तो वह तुरन्त उसे समाहित करके शान्त हो जाता है। यद्यपि बाहर का पूर्ण त्याग हो गया है, परन्तु अन्तरंग में अब भी संकल्प-विकल्प जागृत हो होकर उसकी समता में विघ्न डालते रहते हैं। स्वरूप के इस अन्तरंग ज्वलन में निमित्त पड़ने वाली कर्म-प्रकृति 'संज्वलन' कहलाती है। इसके टल जाने पर वासना पूर्ण क्षय हो जाती है। तब सूक्ष्म संकल्प विकल्पों का भी अभाव हो जाता है। वासनाकाल निःशेष हो जाता है। यथाख्यात समता शमता प्रकट हो जाने के कारण अब वह साधक नहीं सिद्ध हो जाता है।

५. गुण विकास क्रम—उपरोक्त प्रकार साधना-पथ पर अग्रसर कोई जीव क्रम पूर्वक प्रथम तो मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय को हटाकर सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पश्चात् अप्रत्याख्यानावरण को मिटाकर कुछ व्रत धारण कर श्रावक संज्ञा पाता है। फिर प्रत्याख्यानावरण को भी समाप्त कर सकल व्रती साधु नाम पाता है। इसके पश्चात् निश्चल तथा शुद्ध समाधि में लीन होकर क्रम से पहले नोकषाय रूप भावों का और पीछे संज्वलन कषायों का भी उच्छेद कर डालता है। अब वह सकल विमल नीरंग तथा निस्तरंग समता अथवा शमता को प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार सकल मोहनीय का नाश होते ही शेष तीन घातिया प्रकृतियाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय भी बिना परिश्रम स्वतः तत्क्षण विलीन हो जाती हैं, क्योंकि उनकी आधारशिला यह मोहनीय ही थी। बाधक कारणों के अभाव में उसकी ज्ञान दर्शन आदि चेतन शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। अब वह सर्वज्ञ होकर अर्हन्त संज्ञा को प्राप्त करता है। यद्यपि आयु शेष रहती है, शरीर अवस्थित रहता है और कुछ बाहर के इष्ट-अनिष्ट संयोग भी, तदपि मोहनीय के अभाव में वे सब उसको स्पर्श नहीं करते, अर्थात् उसकी समता तथा शमता अक्षुण्ण बनी रहती है। वह अब जीवन्मुक्त है। अत्यन्त पूज्य होने के कारण जैन दर्शन में इस अवस्था को अर्हन्त कहा जाता है। इस अवस्था में उपयोग यद्यपि पूर्ण शुद्ध हो जाता है तदपि अघातिया कर्म जीवित रहने के कारण योग अभी शेष रहता है, जिसके फलस्वरूप वह अपने उपदेशों के द्वारा जग-जीवों का कल्याण करता रहता है।

आयु के अन्तिम क्षण में कुछ काल शेष रहने पर वह उपदेशादि की सर्व बाह्य क्रियाओं को छोड़कर श्वास तक का निरोध कर लेता है। पूर्ण निश्चल योग धारण कर लेता है, जिसके प्रभाव से चारों अघातिया कर्म भी भस्मीभूत हो जाते हैं। इस प्रकार आठों कर्मों के संघात-रूप कार्मण-शरीर का समूल नाश हो जाता है। कारण के अभाव में नये शरीर-रूप कार्य का निर्माण फिर कैसे हो। अब उसके योग तथा उपयोग दोनों स्थिर तथा शुद्ध हो जाते हैं। अब वह अपने शुद्ध अमूर्तिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, और फिर कभी भी मूर्तिक पुद्गल के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होता। संसार-विच्छेद की सिद्धि हो जाने से अब वह सिद्ध कहलाता है। अन्यत्र इसे ही विदेह-मुक्त कहा जाता है। परम शुद्ध दशा को प्राप्त होने से अर्हन्त तथा सिद्ध दोनों ही यद्यपि परम+आत्मा हैं, तदपि कल अर्थात् शरीर से युक्त होने के कारण जीवन्मुक्त अर्हन्त सकल-परमात्मा हैं और शरीर से रहित होने के कारण विदेह-मुक्त सिद्ध निकल परमात्मा हैं। ध्यान रहे कि यह सारा कथन जीव के भाव तथा कर्म इन दोनों के निमित्त-नैमित्तिकपने को दृष्टि में रखकर किया गया है।

६. २८ **प्रकृतियाँ**—इस प्रकार संसार का मूल कारण मोहनीय कर्म ही सिद्ध है। उसके दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय। दर्शन-मोहनीय श्रद्धा की घातक है और चारित्र-मोहनीय वीतराग चारित्र की। चारित्र-मोहनीय के पच्चीस भेद ऊपर कह दिये गये—अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यान् क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद। दर्शन-मोहनीय तीन भेदवाला है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। मिथ्यात्व प्रकृति पूर्ण अन्धकार करती है, अर्थात् स्वरूप का किंचित् भी भान होने नहीं देती। सम्यग्मिथ्यात्व दही गुड़ के मिश्रित स्वादवत् अल्प अन्धकार वाली है अर्थात् सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के मिश्रित एक विजातीय भाव को उत्पन्न करती है, जिसे न सम्यक्त्व कह सकते हैं और न मिथ्यात्व। सम्यक् प्रकृति किंचित् अन्धकार वाली है। इसके सद्भाव में यद्यपि सम्यक्त्व घाता नहीं जाता, पर धुन्धला अवश्य पड़ जाता है, जैसे क्षीण मात्र सी सफेद बदली से सूर्य ढक जाता है पर प्रकाश नहीं।

दर्शन-मोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की २५, ये सब मिलकर कुल २८ उत्तर प्रकृति मोहनीय-कर्मकी हैं। प्रधान कर्म होने के कारण इसका विशेष विस्तार किया है। इसके निमित्त से उत्पन्न होने वाले काषायिक भावों की ही 'भाव कर्म' संज्ञा है, जो नवीन बन्धका कारण है। इसका क्षय करने में ही मोक्ष की यथार्थ साधना निहित है। ❑

१०. स्थित्यादि बन्ध

१. स्थिति; २. बन्ध उदय सत्त्व; ३. अनुभाग; ४. प्रदेश।

षष्ठ अधिकार में द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव के अनुरूप कर्मों के बन्धकी चार शक्तियाँ बताई गई थीं—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। इनमें से प्रकृति-बन्धका अर्थात् उसकी आठ मूल प्रकृतियों का और मोहनीय की २८ अवान्तर प्रकृतियों का कथन कर दिया गया। अब क्रम से स्थिति आदि का भी कथन किया जाता है।

१. स्थिति—यह बात पहले बताई जा चुकी है कि स्थिति का अर्थ आयु या अवस्थान-काल है। जीव के रागादि भाव-कर्मों के निमित्त से कार्मण वर्गणाओं का अष्ट प्रकृतियों के रूप में परिणमन हो जाने के पश्चात् अर्थात् प्रकृति बन्ध हो जाने के पश्चात् जितने काल पर्यन्त वह जीव प्रदेशों के साथ बद्ध उसी प्रकृति के रूप में टिका रहे, उतना काल उस बन्ध की 'स्थिति' कहलाती है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त यह अनेकों भेद वाली हो जाती है। सर्व जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र अर्थात् कुछ मिनटों की है और उत्कृष्ट ७० कोड़ा-कोडी सागर की। 'सागर' अलौकिक गणना का एक विशेष मान है जो संख्यातीत सहस्राब्दियों प्रमाण ही नहीं बल्कि गणनातीत लाइट ईयर्स (Light years) प्रमाण होता है। करोड़ को करोड़ से गुणा करने पर जो लब्ध आए वह एक कोड़ा कोड़ी का प्रमाण है। प्रत्येक प्रकृतिकी जघन्य उत्कृष्ट अथवा मध्यम कुछ न कुछ स्थिति अवश्य होती है। दर्शन-मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ा कोड़ी सागर है। आठों कर्मों की स्थिति में यह सर्वोत्कृष्ट है। चारित्र-मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ा-कोड़ी सागर है, दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, वेदनीय तथा अन्तराय की ३० कोड़ा-कोड़ी सागर, नाम तथा गोत्रकी २० कोड़ा-कोड़ी सागर और आयु की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर प्रमाण है। जघन्य स्थिति सभी प्रकृतियों की कुछ अन्तर्मुहूर्त अर्थात् कुछ क्षण प्रमाण मानी गई है। संसार में रोके रखने के कारण स्थिति-बन्ध जीव को विघ्नकारी है।

२. बन्ध उदय सत्त्व—जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त उपरोक्त स्थितियों में से जितनी कुछ स्थिति लेकर कोई कर्म-विशेष बन्धता है उतने काल तक वह यों ही बेकार सा पड़ा रहता है, अर्थात् फल प्रदान नहीं करता। इसे कर्म की 'सत्ता' कहते हैं। परन्तु अपने-अपने स्थिति-प्रमाण काल बीत जाने पर वह फलोन्मुख हो जाता है अर्थात् जीव के भावों पर अपना प्रभाव डालने की सामर्थ्य से युक्त हो जाता है। यही उसका परिपाक या 'उदय' काल कहलाता है। स्थिति काल का अन्तिम क्षण ही वास्तव में उदय काल है, क्योंकि उस क्षण में फल देकर तदनन्तर उत्तरवर्ती क्षण में ही वह

जीव-प्रदेशों से बन्धन तुड़ाकर पुनः कार्मण वर्गणाओं में सम्मिलित हो जाता है या बिखर कर परमाणुओं में विभाजित हो जाता है। इसे ही कर्म का झड़ना या 'निर्जरा' कहते हैं।

यह तो स्थिति आदि का सामान्य कथन हुआ। अब इसमें कुछ विशेषता दर्शाता हूँ। कर्म-स्थिति में 'निषेक रचना' हुआ करती है। किसी एक समय में बन्धा कर्म-वर्गणाओं का एक पिण्ड एक 'समय-प्रबद्ध' कहलाता है। यद्यपि सामान्य रूप से बताई गई स्थिति इस सारे पिण्ड की गिनी जाती है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। इस 'समय-प्रबद्ध' में आठों प्रकृतियों के कार्मण स्कन्ध सम्मिलित रहते हैं। प्रत्येक प्रकृति के स्कन्ध में अनन्तों कार्मण वर्गणायें होती हैं, जिनकी स्थिति समान नहीं होती। कुछ की स्थिति कम होती है, कुछ की अधिक और अन्य कुछ की उससे भी अधिक। इस क्रम से चलते-चलते अन्तिम कुछ वर्गणाओं की स्थिति सबसे अधिक होती है। यह उत्कृष्ट स्थिति ही उस विवक्षित कर्म की सामान्य स्थिति कही गई है।

इसको समझने के लिए विवक्षित स्थिति के समयों को अपनी कल्पना में ईंटों की भाँति ऊपर नीचे नम्बरवार चिन लीजिए। अब एक 'समय-प्रबद्ध' के अन्तर्गत एक-एक विवक्षित प्रकृति के द्रव्य को वर्गणाओं में विभाजित करके इन क्रमबद्ध समयों पर रखते जाइए। वह भी इस क्रम से कि सबसे अधिक वर्गणायें सबसे निचले समय पर अर्थात् स्थिति-काल के प्रथम समय पर आयें। उनसे कुछ कम उसके ऊपर वाले अनन्तरवर्ती द्वितीय समय पर, उनसे कुछ कम तीसरे समय पर, और इस प्रकार बराबर हानि क्रमसे प्रत्येक समय पर कुछ-कुछ वर्गणायें रखते जाइए। यहाँ तक कि सबसे ऊपर वाले अन्तिम समय पर सबसे कम (अन्तिम शेष भाग) रखकर उस विवक्षित द्रव्य को समाप्त कर दीजिए। एक-एक समय पर टिकायी गयीं वर्गणाओं का जो पिण्ड है वह ही उस-उस समय का 'निषेक' कहा जाता है। यही इस विशेष कथन का तात्पर्य है, जिसका उल्लेख बन्धकी तरफ से स्थिति बताने के लिए किया गया है।

अब उदय की तरफ से भी इसी प्रकार देखिये। सत्तारूप से निश्चेष्ट पड़ा कर्म जब फलोन्मुख होकर अपना सर उभारता है तब वह उदय में आया कहा जाता है। उदयोन्मुख हो जाने के पश्चात् भी वह कुछ काल तक फल देने के लिये समर्थ नहीं हो पाता, उसी प्रकार जिस प्रकार कि बहुत काल तक मूर्च्छित रहने वाला व्यक्ति होश आ जाने पर भी तुरन्त काम करने के योग्य नहीं हो जाता। उदयोन्मुख हो जाने के पश्चात् जितने काल पर्यन्त कर्म फल देने के योग्य नहीं होता उतने काल को 'आबाधा काल' कहते हैं। कुल स्थिति-काल का यह आबाधा-काल असंख्यातवाँ भाग मात्र या इससे भी कम होता है, इसलिये उसको यहाँ गौण कर दिया जाता है। इस आबाधा काल के समाप्त होने पर अनन्तरवर्ती क्षण से ही उदय काल प्रारम्भ हो जाता है। एक समय-प्रबद्ध का पूरा का पूरा

द्रव्य एक ही समय उदय में आ जाये ऐसा नहीं होता, अर्थात् सारा द्रव्य एक ही बार फल देकर नहीं झड़ जाता। स्थितिगत उपरोक्त निषेक-रचना के अनुसार प्रति समय क्रम से एक-एक निषेक उदय में आता है; पहले समय में पहले समय पर रखा गया निषेक और दूसरे समय में दूसरे समय पर रखा गया निषेक। इस प्रकार क्रम से चलते चलते स्थिति काल के सबसे ऊपर वाले अन्तिम समय पर स्थित अन्तिम निषेक उदय में आकर खिर जाता है। इस प्रकार क्रम से उदय में आ आकर खिरते हुए जितने समयों में कुल द्रव्य समाप्त होता है, वह उस विवक्षित कर्म की सामान्य स्थिति कही जाती है, और जितने-जितने काल के पश्चात् जो जो निषेक खिरता है उतने-उतने काल प्रमाण उस निषेक की विशेष स्थिति समझनी चहिये।

इस कथन पर से यह जानना कि किसी एक समय में बन्धा कोई विवक्षित कर्म गणनातीत काल पर्यन्त बराबर उदय में आता रहता है। जितने काल तक वह उदय में आता रहे वह उस कर्म की सामान्य स्थिति है। उदय काल भी कर्म-सामान्य की अपेक्षा तो स्थिति प्रमाण है, केवल आबाधा मात्र हीन है; परन्तु उसके किसी एक विवक्षित निषेक की अपेक्षा वह केवल एक सूक्ष्म समय-प्रमाण है। अर्थात् सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कोई भी कर्म का निषेक एक से अधिक समय तक फल नहीं देता। प्रत्येक निषेक फल देकर तुरन्त खिर जाता है, ऐसा नियम है।

उदय वाले एक-एक निषेक को छोड़कर अन्य जितने भी निषेक आगामी समयों पर स्थित हैं, वे सब सत्तागत निषेक कहलाते हैं। जब तक उदय काल प्राप्त नहीं होता तब तक वे फलदायी नहीं होते, निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। उदय-काल में ही वे फलदायी होते हैं। इसलिए इन समस्त निषेकों से जीव की कुछ भी लाभ हानि नहीं होती, केवल उदय से ही होती है। यह बात खूब अच्छी तरह हृदय में बैठा लेनी चाहिये क्योंकि अगले प्रकरणों का यह प्राण है। बन्ध उदय सत्त्व के इस प्रकरण का विस्तार आगे पृथक् अधिकारों में किया जाने वाला है।

३. अनुभाग—प्रकृति-बन्ध तथा स्थिति-बन्ध कह दिया गया। अब अनुभाग बन्ध का कुछ परिचय देता हूँ। 'अनुभाग' कर्म की तीव्र या मन्द फलदान-शक्ति का नाम है, जो जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त अनेक प्रकार की होती है, और अविभाग प्रतिच्छेदों से मापी जाती है। शक्ति-अंश या भावात्मक यूनिट का नाम अविभाग प्रतिच्छेद है। प्रत्येक प्रकृति में कुछ न कुछ फलदान शक्ति अवश्य होती है, यदि ऐसा न हो तो उसे प्रकृति ही कह नहीं सकते। प्रकृति तो उस कर्म के स्वभाव या जाति मात्र को बताती है परन्तु अनुभाग उसकी तीव्र या मन्द फलदान शक्ति का या रस का नाम है। जघन्य अनुभागवाली प्रकृति का फल जघन्य होता है, उत्कृष्ट का उत्कृष्ट और मध्यम का मध्यम, जिसके अनन्तों भेद हैं। प्रकृति-विशेष का उदय होने पर जीव में उसके अनुभाग के अनुसार ही डिग्री टु डिग्री विकार या आच्छादन होता है, हीन या अधिक नहीं। यह उदय की तरफ से बात हुई।

अब बन्ध की तरफ से देखिए। जीव का राग-द्वेषात्मक भाव कर्म जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त मन्द तथा तीव्र भेदों को लिये, अनेक प्रकार की शक्ति या अनुभाग से युक्त होता है, यह बात सर्व प्रत्यक्ष है। किसी समय का क्रोध मन्द होता है और किसी समय का तीव्र। इसे भाव कर्म का अनुभाग समझो। भाव कर्म के अनुभाग के अनुसार ही उसके निमित्त से, डिग्री टु डिग्री द्रव्य कर्म के अनुभाग का बन्ध होता है। अधिक अनुभाग वाले भाव कर्म से अधिक अनुभाग वाले द्रव्य कर्म का और हीन वाले से हीन का। अनुभाग ही जीव के गुणों को हीन या अधिक बाधा पहुँचाता है, इसलिए साक्षात् रूप से वही जीव को विघ्नकारी है, केवल प्रकृति नहीं।

४. प्रदेश—प्रदेश वाला विकल्प अधिक वर्णनीय नहीं है। द्रव्य कर्म की प्रत्येक प्रकृति में जितने परमाणु (वर्गणा नहीं) बन्ध को प्राप्त होते हैं, उनको उस प्रकृति के प्रदेश कहते हैं। यद्यपि कोई भी समय-प्रबद्ध अनन्त प्रदेशों से कम का नहीं होता, तदपि जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त अनन्त भी अनेक प्रकार का होता है, जिसके कारण किसी समय-प्रबद्ध में कम अनन्त प्रदेश होते हैं और किसी में अधिक अनन्त। समय-प्रबद्ध की तो बात नहीं एक एक निषेक में भी अनन्तों प्रदेश हैं। कभी भी एक या संख्यात या असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध व्यवहारका विषय नहीं बन सकता। पृथक् प्रदेश तो परमाणु है जो पुद्गल की शुद्ध पर्याय होने से द्रव्य-कर्म रूप हो नहीं सकता। कर्म वर्गणा के रूप में संश्लेष-बन्ध को प्राप्त होकर उसका जो मिश्रित विकारी रूप प्रगट होता है उसी का नाम प्रकृति है, और उसमें ही अनुभाग रहता है। प्रदेश-बन्ध से जीव को कोई हानि-लाभ नहीं, क्योंकि प्रदेश हीन हों या अधिक फल तो तीव्र मन्द अनुभाग का होता है, प्रदेशों की संख्या का नहीं।

प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश वाले द्रव्य कर्म के बन्ध उदय आदि का यह कार्य सहज स्वभाव से निमित्त-नैमित्तिक भाव द्वारा होता रहता है, जिसमें किसी भी नियन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। जब तक द्रव्य कर्मों तथा भाव कर्मों का यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध चलता रहेगा तब तक संसार भी स्थित रहेगा। इसलिए अपने भावों को शुद्ध करने की साधना द्वारा इस चक्र का विच्छेद करना कर्त्तव्य है। प्रकृति स्थिति आदि चारों में प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध जीव के योग द्वारा होता है और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय रञ्जित उपयोग द्वारा। चारों प्रकार के बन्ध में स्थिति तथा अनुभाग ही घातक हैं, इसलिए इनको रोकने के लिए मुमुक्षु को अपना उपयोग ही सुधारना चाहिए। उसके सुधर जाने पर भले योग द्वारा प्रकृति प्रदेश बन्धता रहे, पर वह कोई भी बाधा नहीं पहुँचाता, इसलिए व्यर्थ है। ❑

११. कर्म-बन्ध

१. पुनरावृत्ति; २. द्रव्यबन्ध व भावबन्ध; ३. कथन-पद्धति ४. बन्धके निमित्त; ५. स्थिति-अनुभाग-प्राधान्य; ६. प्रदेशास्रव; ७. अनुभाग उद्भव; ८. स्थिति उद्भव; ९. आयु कर्म।

१. पुनरावृत्ति—पहले के पाँच अधिकारों में जीव व कर्म-बन्ध के पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा वस्तु-स्वभाव का परिचय दिया गया। अगले पाँच अधिकारो में द्रव्य-कर्म के अन्तर्गत प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश रूप चार विकल्पों का विवेचन किया गया। साथ ही स्थिति में पड़ने वाली निषेक रचना का, इन निषेकों के क्रम पूर्वक उदय में आने का तथा सत्ता में स्थित रहने का संक्षिप्त विचार किया गया। अब बन्ध उदय सत्त्व प्रकरण की विशेष विचारणा के अर्थ पृथक् से ये दो अधिकार प्रारम्भ किये जाते हैं।

अनेक जड़ परमाणुओं का या वर्गणाओं का परस्पर में अँथवा जीव के प्रदेशों के साथ जो विशेष प्रकार का संश्लेष सम्बन्ध होता है, वही 'बन्ध' कहलाता है। इस बन्ध में जड़ तथा चेतन दोनों ही पदार्थ अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर किन्हीं विचित्र विजातीय भाव-विकारों को धारण कर लेते हैं। कर्म-बन्ध सम्बन्धी अन्य अनेकों स्वाभाविक विचित्रताओं का परिचय अधिकार नं० ५ तथा ६ में दिया जा चुका है। जीव पुद्गल का पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध दर्शाते हुए अधिकार नं० ७ में यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि जीवों की योग तथा उपयोगात्मक क्रिया का अथवा भावों का निमित्त पाकर कर्म वर्गणायें उसके प्रदेशों के साथ, द्रव्य कर्म के रूप में बन्ध जाती हैं। पीछे यथा समय जब उस द्रव्य कर्म का उदय होता है तब उस कर्म की प्रकृति तथा अनुभाग के अनुसार तीव्र या मन्द रागादि भाव-कर्म अथवा विकार उत्पन्न होते हैं। यह सब कुछ स्वतः स्वभाव से होता रहता है। अब उस बन्ध का क्रम क्या है, यह बात दर्शानी इष्ट है।

२. द्रव्य-बन्ध व भाव-बन्ध—बन्ध दो प्रकार का है—द्रव्य-बन्ध तथा भाव-बन्ध। कार्मण वर्गणाओं का कार्मण वर्गणाओं के साथ तथा जीव प्रदेशों के साथ जो बन्ध होता है उसे द्रव्य-बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जीव के भावों का या उसके उपयोग का बाह्य पदार्थों के साथ जो बन्ध होता है वह भाव-बन्ध कहलाता है। इष्ट अनिष्ट रूप या ग्राह्य त्याज्य रूप द्वन्द्वों से युक्त चित्त का इन पदार्थों के प्रति जो स्वामित्व कर्तृत्व भोक्तृत्व भाव होता है वह ही इसका स्वरूप है। पुत्र, मित्र, कलत्र आदि चेतन पदार्थों के साथ अथवा धन, धान्य, वस्त्र, गृह, वाहन आदि अचेतन पदार्थों के साथ चित्त की यह ग्रन्थि इतनी दृढ़ होती है कि इन पदार्थों में हानि, वृद्धि, क्षति,

अपहरण, रोग, स्वास्थ्य आदि के रूप में कुछ भी परिवर्तन होने पर चित्त में तदनुरूप परिवर्तन होने लगता है। वृद्धि में हर्ष, हानि में विषाद, स्वास्थ्य में हर्ष, रोग में शोक होता है। किसी के द्वारा किसी वस्तु का अपहरण किये जाने पर चित्त भी उस वस्तु के साथ बन्धा हुआ उसके पीछे-पीछे चलता है। यही भाव-बन्ध है।

द्रव्य-बन्ध दो प्रकार का होता है—पुद्गल का पुद्गल के साथ और पुद्गल का जीव प्रदेशों के साथ। इसी प्रकार भाव-बन्ध भी दो प्रकार का है—भाव का भाव के साथ और भाव का द्रव्य के साथ। जीव के क्रोधादि भावों को देखकर भय आदि का होना पहला है और बाह्य दृष्ट पदार्थों को देखकर उनके प्रति हर्ष शोक आदि का होना दूसरा है, इसी प्रकार बन्ध तत्त्व के अन्य भी अनेकों भेद किए जा सकते हैं।

३. कथन पद्धति—यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कर्म-सिद्धान्त द्रव्य बन्ध की मुख्यता से कथन करता है और अध्यात्म शास्त्र भाव बन्ध की मुख्यता से, परन्तु तात्पर्य दोनों का एक है केवल कथन पद्धति में अन्तर है। क्योंकि द्रव्य तथा भाव कर्मों का परस्पर में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि किसी भी एक के जान लेने पर दूसरे का ज्ञान स्वतः हो जाता है। फिर भी समझने तथा समझाने के लिए द्रव्य-बन्ध की तरफ से कथन करने में सरलता पड़ती है, और भाव-बन्ध का कथन अत्यन्त विस्तृत तथा जटिल हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि केवल स्वसंवेदन-गम्य होने से भावों का कथन असम्भव है। निमित्त की भाषा पराश्रित होने से सम्भव है और सर्व-जन-परिचित होने से सरल भी।

कर्म-सिद्धान्त की पद्धति में सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को जानने के लिए द्रव्य-कर्म का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। अतः आगे-आगे के प्रकरणों में द्रव्य-कर्मों के बन्ध उदय आदि का ही कथन किया जायेगा, उनके निमित्त से होने वाले जीव-भावों का नहीं। जीव-भावों का परिज्ञान स्वयं कर लेना योग्य है। द्रव्य-कर्म की दिशा में जहाँ जिस प्रकृति का बन्ध होना कहा गया है, वहाँ जीव के भाव-कर्म की दिशा में यह बात अवश्यम्भावी है कि जीव के भावों में उस समय उसी प्रकार का विकल्प अथवा कषाय कर रहा है, अन्यथा उस प्रकृति का बन्ध होना सम्भव नहीं था। इसी प्रकार जहाँ जिस प्रकृति का उदय होना कहा गया है वहाँ यह बात अवश्यम्भावी है कि जीव के भावों में उस समय उसी प्रकार का विकल्प अथवा कषाय उदित हो गयी है अथवा तदनुरूप उसके ज्ञान दर्शन आदि गुण आच्छादित हो गए हैं, अन्यथा कर्म का उदय कहना निष्प्रयोजन हो जायेगा। जिस प्रकार थर्मामीटर का पारा देखकर व्यक्ति के ज्वर की तरतमता का ज्ञान स्वयं हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य-कर्म के बन्ध उदय आदि पर से जीव के भावों का अनुमान स्वयं हो जाता है। इसलिये कर्म-सिद्धान्त जीव के भावों को मापने के लिये थर्मामीटर के समान है। द्रव्य-कर्म तथा जीव के भाव इन दोनों का कथन साथ-साथ करना क्योंकि बहुत जटिल हो जाता है, इसलिये कर्म-सिद्धान्त की शैली में द्रव्य कर्म के बन्ध आदि पर से ही जीव के

भावों का अनुमान करना योग्य है । अतः हम जहाँ भी कर्म शब्द लिखें वहाँ आप द्रव्य-कर्म जानना भाव-कर्म नहीं, और उस परसे भाव-कर्म का अनुमान स्वयं लगा लेना ।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कर्म के अन्तर्गत चार विकल्प हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश । चारों ही विकल्प कर्म सिद्धान्त के प्रत्येक प्रकरण पर लागू होते हैं, परन्तु सुविधा तथा संक्षेप के लिये यहाँ केवल प्रकृति के आधार पर ही कथन किया जायेगा, शेष विकल्प स्वयं लागू कर लेना । कर्म-सिद्धान्त के अन्तर्गत १० अधिकार हैं जिन्हें १० करण कहते हैं—बन्ध, उदय, सत्त्व, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उपशम, क्षय, (क्षयोपशम), निधत्त तथा निःकाचित । इनका कथन अब क्रम से किया जायेगा ।

४. बन्ध के निमित्त—जीव के भावों का निमित्त पाकर कर्म का बन्ध होता है । जीव के भाव दो प्रकार के हैं—योग तथा उपयोग । योग अर्थात् प्रदेश परिस्पन्दन और उपयोग अर्थात् रागादि भाव । योग द्रव्यात्मक है और उपयोग भावात्मक । इसी प्रकार कर्म में भी दो विभाग हैं—प्रकृति युक्त प्रदेश द्रव्यात्मक है और स्थिति युक्त अनुभाग भावात्मक है । द्रव्यात्मक कर्म के निमित्त द्रव्यात्मक और भावात्मक कर्म के निमित्त भावात्मक होने आवश्यक हैं । इसी कारण योग से प्रकृति तथा प्रदेश और उपयोग से स्थिति तथा अनुभाग बन्ध होता है । जैसा कि पर्याय वाले प्रकरण में बताया जा चुका है, वस्तु की गमनागमन रूप क्रिया या परिस्पन्दन पदार्थों का भेद तथा संघात (सम्मेल) कराने में कारण है और उसके भावों का अन्तरंग परिणमन भाव-निर्माण का हेतु है । इसलिए प्रदेश-परिस्पन्दनात्मक 'योग' केवल कर्म प्रदेशों के सम्मेल तथा बिछोह में कारण हो सकता है, उसके अनुभाग स्वरूप भावों में नहीं । इसी प्रकार उसका रागद्वेषात्मक उपयोग उन प्रदेशों में फलदान शक्ति उत्पन्न करने में हेतु हो सकता है प्रदेशों के चलनाचलन में नहीं ।

५. स्थिति-अनुभाग-प्राधान्य—किसी जीव को ८ प्रकृति बन्धती हैं, किसी को ७ या ६ आदि । किसी को हीन अनुभाग तथा हीन स्थितियुक्त बन्धती है और किसी को अधिक अनुभाग तथा अधिक स्थितियुक्त । किसी को एक समय-प्रबद्ध में अधिक प्रदेश बन्धते हैं और किसी को कम । यहाँ अधिक प्रकृतियों के अथवा अधिक प्रदेशों के बन्ध से कोई हानि नहीं, क्योंकि हीन अनुभाग वाले अधिक भी प्रदेशों का उदय जीव को किन्चित् मात्र ही बाधा पहुँचाता है और अधिक अनुभाग वाले अल्पमात्र भी प्रदेशों का उदय जीव को अधिक बाधाकारक है; जैसे कि उबलते हुये जल की एक कटोरी भी शरीर में छाला डाल देती है और कम गर्म जल की एक बाल्टी भी शरीर को कोई हानि नहीं पहुँचाती । अतः कर्म-सिद्धान्त में सर्वत्र अनुभाग तथा स्थिति के ही बन्ध उदय उत्कर्षण आदि की प्रधानता है, प्रकृति तथा प्रदेश की नहीं ।

६. प्रदेशास्रव—बन्ध के अन्तर्गत दो विकल्प हैं, कर्म प्रदेशों का आकर इकट्‌ठा होना और बन्धना। इकट्‌ठा होने को 'आस्रव' कहते हैं और उनके संश्लेष सम्बन्ध को 'बन्ध'। यहाँ आस्रव केवल प्रदेश परिस्पन्दन या गमनागमन स्वरूप है और बन्ध स्निग्ध रुक्ष भावस्वरूप। इसलिये जीव का प्रदेश-परिस्पन्दन-रूप योग आस्रव में कारण है, जबकि उसका भावात्मक उपयोग उन आगत प्रदेशों में यथायोग्य स्निग्धादि गुणों को प्रकट करके उन्हें परस्पर बाँधने में कारण है। उन स्निग्धादि गुणों की तरतमता तथा चित्रता-विचित्रता ही उस कर्म की स्थिति तथा अनुभाग है। इस कथन का यह सारांश जानना कि नित्य चंचल योग के कारण अनन्तों कार्मण वर्गणायें प्रति समय आस्रव द्वारा विस्रसोपचय से पृथक् होकर जीव प्रदेशों के साथ संयोग को प्राप्त होती रहती हैं, पर उसके साथ बँधने नहीं पातीं। यदि साथ-साथ रागादि रूप उपयोग का निमित्त भी मिल जाये तो वे उसके साथ बन्ध को भी प्राप्त हो जाती हैं।

इस पर से यह बात सिद्ध हो जाती है कि विहार तथा उपदेशादि क्रियायें करते हुये भी वीतरागी तथा जीवन्मुक्त सकल-परमात्मा को अर्थात् अर्हन्त भगवान को उन अपने योगों के कारण कर्मों का आस्रव तो अवश्य होता है, परन्तु रागादि रूप उपयोग के अभाव के कारण वे कर्म वहाँ बन्ध को प्राप्त नहीं होते, बल्कि अनन्तरवर्ती उत्तर समय में ही सूखे कपड़े पर पड़ी धूलवत् झड़ जाते हैं। दूसरी ओर संसारी जीवों में योग तथा विकृत उपयोग दोनों उपलब्ध होते हैं इसलिये वहाँ आस्रव तथा उसके साथ ही बंध भी हो जाता है, अर्थात् उसमें कुछ काल तक वहाँ टिके रहने की शक्ति भी प्रगट हो जाती है। या यों कह लीजिये कि वह स्थितियुक्त हो जाता है। जिस प्रकार कि चिकने कपड़े पर पड़ी हुई धूल उस पर इस प्रकार बैठ जाती है कि झाड़ने पर भी नहीं झड़ती, इसी प्रकार उस कर्म का संस्कार जीव के चित्त पर इस प्रकार अंकित होकर बैठ जाता है कि हजार प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं होता।

वीतरागियों के इस बन्ध-विहीन आस्रव को 'ईर्यापथ-आस्रव' कहते हैं और संसारी जीवों के बन्ध-युक्त आस्रव को 'साम्परायिक-आस्रव'; क्योंकि पहले के वे कर्म तो केवल आकर चले ही जाते हैं और दूसरे के कर्म संसार- परम्परा का निर्माण करते हैं। ईर्यापथ में भी स्थिति अवश्य होती है, सर्वथा न हो ऐसा होना संभव नहीं; क्योंकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है बिना स्थिति के कर्म होता ही नहीं। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ स्थिति केवल एक समय मात्र होती है, और साम्परायिक में एकाधिक समय प्रमाण। एक समय मात्र स्थिति को बन्ध संज्ञा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि उस समय में तो वह आया ही है, अगले समय टिके तो बन्ध कहलाये। आने का नहीं, टिकने का नाम बन्ध है। अगले समय झड़ ही जाता है, इसलिये बन्ध कैसे कहें।

७. अनुभाग-उद्भव—एक समय में बन्ध को प्राप्त हुये कर्म-स्कन्ध में अनंतों कार्मण वर्गणायें होती हैं। इन सबके समूह का नाम एक समय-प्रबद्ध है। सामान्य रीति से एक होते हुये भी जीव के योग तथा उपयोग की विचित्रता के अनुसार यह द्रव्य आठ प्रकृतियों में विभक्त हो जाता है। कितना द्रव्य किस प्रकृति के हिस्से में आता है, इसका कुछ नियमित क्रम है, जो आगम से जान लेना चाहिये। प्रकृति होती है उस अनुभाग-विशेष की जाति। अनुभाग का कथन नीचे किया जा रहा है। इतना केवल प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध का कथन हुआ। अब आगे अनुभाग तथा स्थिति बंन्ध का कथन किया जाता है।

जीवों के तत्-तत् समय सम्बन्धी रागादि भावों के अनुसार उस कर्म-स्कन्ध में अनुभाग या रस (फल दान शक्ति) पड़ जाता है। तीव्र परिणाम से तीव्र रस पड़ता है और मन्द से मन्द। तीव्र रस का फल जीव में अधिक विकार अथवा अधिक सुख-दु:ख उत्पन्न करना है और मन्द रस का फल हीन विकार हीन सुख-दु:ख प्रदान करना है। यही अनुभाग बन्ध कहलाता है।

जिस जाति का अनुभाग होता है उस जाति की ही प्रकृति कहलाती है। यद्यपि एक ही परिणाम आठों प्रकृतियों के अनुभागों में कारण है परन्तु जिस परिणाम का झुकाव जिस तरफ़ प्रधान होता है उसी के अनुरूप कर्म में विशेष अनुभाग पड़ता है। यद्यपि दूसरी प्रकृतियों में भी हीन या अधिक कुछ न कुछ अनुभाग अवश्य पड़ता है परन्तु कथन करने में उस एक विशेष अनुभाग वाली प्रकृति की ही मुख्यता रहती है। इस प्रकार जीव के परिणामों पर से हम जान सकते हैं कि किस समय कौन सी प्रकृति बंधी है और उसमें कितना अनुभाग पड़ा है।

जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—शुभ, अशुभ तथा शुद्ध। दया दान पूजा संयम आदि के परिणाम शुभ हैं, हिंसा आदि के अशुभ और समता तथा शमता युक्त परिणाम शुद्ध कहलाते हैं। समस्त संसारी जीवों में हीन या अधिक रूप से शुभ तथा अशुभ परिणाम ही पाये जाते हैं शुद्ध नहीं। परन्तु किन्हीं साधकों में कदाचित ध्यानादि के समय कुछ शुद्ध भी पाये जाते हैं। सम्यग्दृष्टियों में हर समय शुद्ध परिणाम का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य पाया जाता है। यहाँ शुभ परिणामों से शुभ या पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और अशुभ से पाप प्रकृतियों का। शुद्ध परिणाम बन्ध के कारण नहीं हैं, बल्कि पूर्व बन्धको काटने के कारण हैं। यद्यपि मुख्यता से परिणाम को शुभ या अशुभ आदि कहा जाता है, तदपि पूर्ण शुद्ध के अतिरिक्त कोई भी परिणाम अकेला नहीं होता। लौकिक हो या साधक किसी भी संसारी जीव में केवल शुभ या केवल अशुभ अथवा केवल शुद्ध परिणाम कभी नहीं होता। इनका मिश्रित रूप ही सर्वत्र उपलब्ध होता है। लौकिक व्यक्ति में शुभ अशुभ का और साधक में तीनों का मिश्रण होता है। जिस भाव का अंश प्रभूत या अधिक होता है वह सारा परिणाम वैसा ही कहा जाता है। मिश्रित का कथन जटिल होने से सम्भव नहीं है,

इसलिये आगम में पृथक्-पृथक् परिणामों से पृथक्-पृथक् प्रकृतियों का बन्ध होने का निर्णय किया गया है। यहाँ उस अंश के अनुसार अन्य प्रकृतियों के बन्धका भी अनुमान स्वयं कर लेना।

कैसे भाव से कैसी प्रकृति या कैसा अनुभाग बन्धता है, इसका कुछ अनुमान निम्न कथन पर से करना। पुस्तक तथा गुरु आदि की अविनय करना, गुरु का नाम छिपाना, ज्ञानियों के साथ द्वेष तथा ईर्ष्या करना तथा अन्य भी इसी प्रकार के परिणाम ज्ञान दर्शन शक्ति के विरोधी होने से, 'ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण' के बन्ध में हेतु होते हैं। किसी को पीड़ा पहुँचाना, अधिक शोक विलाप करना आदि स्वयं दुख के उत्कर्षरूप होने से 'असाता वेदनीय' के बन्ध के कारण हैं। इसी प्रकार दया तथा संयम आदि के परिणाम स्व तथा पर को सुखकारक होने से 'साता वेदनीय' के बन्ध के कारण हैं। वीतरागी जनों का अथवा देव गुरु शास्त्र तथा धर्म का अनादर तिरस्कार करना स्वयं धर्म की अथवा तत्त्वदृष्टिकी अवहेलनारूप होने से अनन्त संसार की हेतुभूता 'दर्शनमोह' प्रकृति के बन्ध का कारण है। क्रोधादि भाव या विषयासक्ति स्वयं मूर्च्छा तथा संसारासक्ति-रूप होने से 'चारित्र-मोह' के बन्ध के कारण हैं। इसी प्रकार अधिक आरम्भ तथा धनसञ्चय आदि के परिणाम अत्यन्त कलुष अथवा परशोषक होने से नरकायु के, मायाचारी स्वयं तिर्यक् या टेढ़ी होने से तिर्यञ्चायु की, कोमल परिणाम मानवीयता रूप होने से मनुष्यायु के और व्रत संयमादि के परिणाम ऊर्ध्वमुखी होने से देवायु के कारण हैं। मन वचन काय की वक्रता से अशुभ नाम कर्म का और सरल योगों से शुभनाम कर्म का बन्ध होता है। आत्मप्रशंसा तथा पर-निन्दा से नीच गोत्र का और इनसे विपरीत आत्मनिन्दा तथा पर-प्रशंसा से उच्च गोत्र का बन्ध होता है। अन्य के ज्ञानादि कार्यों में अथवा धन लाभ में अथवा स्वास्थ्य तथा सुख आदि में विघ्न डालने से 'अन्तराय' का बन्ध होता है। इस कथन पर से अपने परिणामों का अनिष्ट फल जानकर उनसे हटने का प्रयत्न जागृत होना ही, कर्म-सिद्धान्त का प्रधान प्रयोजन है।

८. **स्थिति-उद्भव**—उक्त काषायिक परिणामों के कारण कर्म प्रदेशों में एक ओर जहाँ अनुभाग पड़ता है वहाँ ही दूसरी ओर उनमें स्थिति भी पड़ती है। स्थिति चाहे शुभ प्रकृतिकी हो या अशुभकी, संसारी जीव को संसार में रोक रखना ही उसका प्रधान कार्य है, इसलिये वह सर्वथा अशुभ ही मानी गई है। स्थिति में शुभपने की कल्पना को अवकाश नहीं। इसलिये शुभ परिणामों से स्थिति कम बंधती है और अशुभ से अधिक। यह बात युक्त भी है क्योंकि परिणाम शुभ हों या अशुभ, हैं तो संसारोन्मुखी ही; इसीलिये संसार में रोकने का कारण हैं। ससार-विमुख होने से शुद्ध परिणाम से कोई स्थिति नहीं बंधती। इसलिये हमारी प्रवृत्ति जब तक शुद्ध परिणामों को धारण करके संसार के निर्मूलन में समर्थ नहीं हो जाती तब तक उसकी स्थिति कम करने के लिये, अशुभ से हटकर शुभ की ओर लगाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

१२. उदय तथा सत्त्व

१. उदय; २. सत्त्व; ३. बन्ध सत्त्व सम्मेल।

जीव के योग तथा उपयोग के निमित्त से प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य का आस्रव तथा बन्ध होता है, जो आठ प्रकृतियों में विभाजित हो जाता है। आठ प्रकृतियों को गौण करके कथन को सरल बनाने के लिये आगे उदय तथा सत्त्वादि करणों का विवेचन सामान्य रूप से करने में आयेगा। यहाँ अपनी बुद्धि से सर्वत्र आठ विभाग स्वयं करके जान लेना।

१. उदय—जिस प्रकार प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य बंधता है, उसी प्रकार प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य उदय में आकर झड़ता है। सो कैसे वही बताता हूँ। कर्मकी अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उस समय-प्रबद्ध में (आठों प्रकृतियों की पृथक्-पृथक्) निषेक-रचना पड़ती है, यह पहले बताया जा चुका है (दे० अधिकार १०/२) । एक समय-प्रबद्ध का एक ही निषेक एक समय में उदय आता है। इस प्रकार उस समय-प्रबद्ध का कुल द्रव्य सम्पूर्ण स्थिति पर्यन्त, समय प्रति समय क्रम से बराबर अपना फल देता रहता है। इस प्रकार देखने पर कह सकते हैं कि कोई भी कर्म बंधता तो एक समय में है परन्तु फल अनेक समयों में देता है। वर्तमान में बंधे कर्मका ५.७ भाग वर्तमान में फल देता है और कुछ भव भवान्तरों में।

जिस प्रकार एक समय-प्रबद्ध की बात पढ़ी, उसी प्रकार अगले-अगले सभी समय-प्रबद्धों के विषय में भी जानना। कल्पना करो कि वर्तमान समय में मैं कर्म बन्ध से सर्वथा शून्य हूँ। इस समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य बन्ध को प्राप्त हुआ और दूसरे तीसरे आदि समयों में बराबर दूसरा तीसरा आदि समय-प्रबद्ध बन्धता चला गया। सभी में निषेक-रचना भी होती चली गई। आबाधा काल बीतने के पश्चात् प्रथम समय-प्रबद्ध का पहला एक निषेक उदय में आया। उस समय दूसरे तीसरे आदि समय-प्रबद्धों का कोई भी निषेक उदय में न आ सका, क्योंकि एक-एक समय पीछे बंधने के कारण उनका उदय भी पहले वाले से एक एक समय पीछे ही होना चाहिए। इस प्रकार दूसरे समय में प्रथम तथा द्वितीय दो समय-प्रबद्धों का एक एक निषेक मिलकर दो निषेक उदय में आये, प्रथम समय-प्रबद्ध का दूसरा निषेक और द्वितीय समय-प्रबद्ध का पहला निषेक। तीसरे समय प्रथम द्वितीय तथा तृतीय समय-प्रबद्धोंके एक एक निषेक मिलकर तीन निषेक उदय में आये, पहले समय-प्रबद्ध का तीसरा निषेक, द्वितीय समय-प्रबद्ध का द्वितीय निषेक और तृतीय समय-प्रबद्ध का प्रथम निषेक। इसी प्रकार क्रम से चतुर्थ, पञ्चम आदि समयों में चार पाँच आदि निषेकों का उदय जानना।

९. आयु कर्म—यद्यपि प्रकृति का विभाजन दिखाते समय ऊपर यह कहा गया है कि प्रत्येक समय-प्रबद्ध आठ प्रकृतियों में विभक्त हो जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रतिक्षण बंधनेवाले समय-प्रबद्ध आयु के अतिरिक्त सात प्रकृतियों में ही विभक्त होते हैं। आयु कर्म के बन्ध में कुछ विशेषता है। वह यह कि अन्य कर्मों की भाँति यह प्रकृति प्रतिक्षण नहीं बंधती। इसके बन्धन के लिये सारे जीवन में आठ अवसर आते हैं, जिन्हें आठ 'अपकर्ष' कहा जाता है। किसी भी प्राणी की हीन या अधिक सम्पूर्ण आयु को तीन से भाग देकर, दो तिहाई भाग बीत जाने पर जब एक तिहाई भाग शेष रह जाये, तब पहला अवसर या अपकर्ष आता है। उसमें आयु बंधनी सम्भव है पर निश्चित नहीं। यदि इस अवसर पर न बंधी तो पुन: उस तिहाई में से दो तिहाई भाग बीत जाने पर दूसरा अवसर या अपकर्ष आता है। यहाँ भी न बंधी तो अब जो भाग शेष है उसका भी दो तिहाई बीत जाने पर तीसरा अपकर्ष आता है। इसी प्रकार प्रत्येक शेष भाग का दो तिहाई बीतने पर चौथा आदि के क्रम से आठ अपकर्ष आते हैं। आठवाँ अपकर्ष आयु का अंतिम भाग है। इस आठवें अपकर्ष में भी कदाचित न बंधे तो मृत्यु के क्षण से अंतर्मुहूर्त पहले अर्थात् एक क्षण पहले अवश्य बंधती है।

इस नवीन बंधी आयु के अनुसार ही जीव को अगले भव में प्रवेश करना तथा वहाँ टिके रहना होता है। नरक आयु के बन्ध-वाले जीव नारकी के भवको प्राप्त करते हैं और मनुष्यायु के बन्धवाले जीव मनुष्य के भव को। हम सब परोक्ष दृष्टि वाले हैं, इसलिये नहीं जान सकते कि हमारी आयु के बन्ध-योग्य यह अपकर्ष-काल कब आ धमके। अत: अपकर्ष-काल आयेगा तो परिणाम सुधार लेंगे, ऐसा प्रमाद न करके अगले भव के लिये जागते तथा सोते सदा सावधान रहना चाहिए। कभी भी अत्यन्त कलुष अशुभ प्रवृत्ति करनी योग्य नहीं, क्योंकि कौन जाने कि वही आयु के बन्ध-योग्य अपकर्ष-काल हो। विशेष रूप से मृत्यु के समय परिणामों की सम्भाल अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि अधिकतर जीवों की अन्त में ही आयु बंधती है। उस समय जैसी वासना बन जाती है तदनुसार ही वह बंध जाती है। भरत जैसे ज्ञानी भी पूर्वभव में अन्तिम समय मृग-माणवक की वासना होने से मृग की योनि में चले गये थे। इसी कारण मृत्यु के समय यथायोग्य पवित्रता धारण करनी योग्य है। इसी प्रयोजन से समाधि-मरण कराया जाता है। मृत्यु से पहले व्यक्ति को चारपाई से उतार देना भी उसी का प्रतीक है परन्तु वह तभी संभव है जब कि सारे जीवन परिणाम सम्भालने का अभ्यास किया हो, अन्यथा वेदनायुक्त उस अवसर पर परिणामों की सम्भाल सम्भव नहीं। ❑

इसलिये आगम में पृथक्-पृथक् परिणामों से पृथक्-पृथक् प्रकृतियों का बन्ध होने का निर्णय किया गया है। यहाँ उस अंश के अनुसार अन्य प्रकृतियों के बन्धका भी अनुमान स्वयं कर लेना।

कैसे भाव से कैसी प्रकृति या कैसा अनुभाग बन्धता है, इसका कुछ अनुमान निम्न कथन पर से करना। पुस्तक तथा गुरु आदि की अविनय करना, गुरु का नाम छिपाना, ज्ञानियों के साथ द्वेष तथा ईर्ष्या करना तथा अन्य भी इसी प्रकार के परिणाम ज्ञान दर्शन शक्ति के विरोधी होने से, 'ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण' के बन्ध में हेतु होते हैं। किसी को पीड़ा पहुँचाना, अधिक शोक विलाप करना आदि स्वयं दुख के उत्कर्षरूप होने से 'असाता वेदनीय' के बन्ध के कारण हैं। इसी प्रकार दया तथा संयम आदि के परिणाम स्व तथा पर को सुखकारक होने से 'साता वेदनीय' के बन्ध के कारण हैं। वीतरागी जनों का अथवा देव गुरु शास्त्र तथा धर्म का अनादर तिरस्कार करना स्वयं धर्म की अथवा तत्त्वदृष्टिकी अवहेलनारूप होने से अनन्त संसार की हेतुभूता 'दर्शनमोह' प्रकृति के बन्ध का कारण है। क्रोधादि भाव या विषयासक्ति स्वयं मूर्च्छा तथा संसारासक्ति-रूप होने से 'चारित्र-मोह' के बन्ध के कारण हैं। इसी प्रकार अधिक आरम्भ तथा धनसञ्चय आदि के परिणाम अत्यन्त कलुष अथवा परशोषक होने से नरकायु के, मायाचारी स्वयं तिर्यक् या टेढ़ी होने से तिर्यञ्चायु की, कोमल परिणाम मानवीयता रूप होने से मनुष्यायु के और व्रत संयमादि के परिणाम ऊर्ध्वमुखी होने से देवायु के कारण हैं। मन वचन काय की वक्रता से अशुभ नाम कर्म का और सरल योगों से शुभनाम कर्म का बन्ध होता है। आत्मप्रशंसा तथा पर-निन्दा से नीच गोत्र का और इनसे विपरीत आत्मनिन्दा तथा पर-प्रशंसा से उच्च गोत्र का बन्ध होता है। अन्य के ज्ञानादि कार्यों में अथवा धन लाभ में अथवा स्वास्थ्य तथा सुख आदि में विघ्न डालने से 'अन्तराय' का बन्ध होता है। इस कथन पर से अपने परिणामों का अनिष्ट फल जानकर उनसे हटने का प्रयत्न जागृत होना ही, कर्म-सिद्धान्त का प्रधान प्रयोजन है।

८. **स्थिति-उद्भव**—उक्त काषायिक परिणामों के कारण कर्म प्रदेशों में एक ओर जहाँ अनुभाग पड़ता है वहाँ ही दूसरी ओर उनमें स्थिति भी पड़ती है। स्थिति चाहे शुभ प्रकृतिकी हो या अशुभकी, संसारी जीव को संसार में रोक रखना ही उसका प्रधान कार्य है, इसलिये वह सर्वथा अशुभ ही मानी गई है। स्थिति में शुभपने की कल्पना को अवकाश नहीं। इसलिये शुभ परिणामों से स्थिति कम बंधती है और अशुभ से अधिक। यह बात युक्त भी है क्योंकि परिणाम शुभ हों या अशुभ, हैं तो संसारोन्मुखी ही; इसीलिये संसार में रोकने का कारण हैं। ससार-विमुख होने से शुद्ध परिणाम से कोई स्थिति नहीं बंधती। इसलिये हमारी प्रवृत्ति जब तक शुद्ध परिणामों को धारण करके संसार के निर्मूलन में समर्थ नहीं हो जाती तब तक उसकी स्थिति कम करने के लिये, अशुभ से हटकर शुभ की ओर लगाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

७. अनुभाग-उद्भव—एक समय में बन्ध को प्राप्त हुये कर्म-स्कन्ध में अनंतों कार्मण वर्गणायें होती हैं। इन सबके समूह का नाम एक समय-प्रबद्ध है। सामान्य रीति से एक होते हुये भी जीव के योग तथा उपयोग की विचित्रता के अनुसार यह द्रव्य आठ प्रकृतियों में विभक्त हो जाता है। कितना द्रव्य किस प्रकृति के हिस्से में आता है, इसका कुछ नियमित क्रम है, जो आगम से जान लेना चाहिये। प्रकृति होती है उस अनुभाग-विशेष की जाति। अनुभाग का कथन नीचे किया जा रहा है। इतना केवल प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध का कथन हुआ। अब आगे अनुभाग तथा स्थिति बन्ध का कथन किया जाता है।

जीवों के तत्-तत् समय सम्बन्धी रागादि भावों के अनुसार उस कर्म-स्कन्द्य में अनुभाग या रस (फल दान शक्ति) पड़ जाता है। तीव्र परिणाम से तीव्र रस पड़ता है और मन्द से मन्द। तीव्र रस का फल जीव में अधिक विकार अथवा अधिक सुख-दु:ख उत्पन्न करना है और मन्द रस का फल हीन विकार हीन सुख-दु:ख प्रदान करना है। यही अनुभाग बन्ध कहलाता है।

जिस जाति का अनुभाग होता है उस जाति की ही प्रकृति कहलाती है। यद्यपि एक ही परिणाम आठों प्रकृतियों के अनुभागों में कारण है परन्तु जिस परिणाम का झुकाव जिस तरफ प्रधान होता है उसी के अनुरूप कर्म में विशेष अनुभाग पड़ता है। यद्यपि दूसरी प्रकृतियों में भी हीन या अधिक कुछ न कुछ अनुभाग अवश्य पड़ता है परन्तु कथन करने में उस एक विशेष अनुभाग वाली प्रकृति की ही मुख्यता रहती है। इस प्रकार जीव के परिणामों पर से हम जान सकते हैं कि किस समय कौन सी प्रकृति बंधी है और उसमें कितना अनुभाग पड़ा है।

जीव के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं—शुभ, अशुभ तथा शुद्ध। दया दान पूजा संयम आदि के परिणाम शुभ हैं, हिंसा आदि के अशुभ और समता तथा शमता युक्त परिणाम शुद्ध कहलाते हैं। समस्त संसारी जीवों में हीन या अधिक रूप से शुभ तथा अशुभ परिणाम ही पाये जाते हैं शुद्ध नहीं। परन्तु किन्हीं साधकों में कदाचित ध्यानादि के समय कुछ शुद्ध भी पाये जाते हैं। सम्यग्दृष्टियों में हर समय शुद्ध परिणाम का कुछ-न-कुछ अंश अवश्य पाया जाता है। यहाँ शुभ परिणामों से शुभ या पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और अशुभ से पाप प्रकृतियों का। शुद्ध परिणाम बन्ध के कारण नहीं हैं, बल्कि पूर्व बन्धको काटने के कारण हैं। यद्यपि मुख्यता से परिणाम को शुभ या अशुभ आदि कहा जाता है, तदपि पूर्ण शुद्ध के अतिरिक्त कोई भी परिणाम अकेला नहीं होता। लौकिक हो या साधक किसी भी संसारी जीव में केवल शुभ या केवल अशुभ अथवा केवल शुद्ध परिणाम कभी नहीं होता। इनका मिश्रित रूप ही सर्वत्र उपलब्ध होता है। लौकिक व्यक्ति में शुभ अशुभ का और साधक में तीनों का मिश्रण होता है। जिस भाव का अंश प्रभूत या अधिक होता है वह सारा परिणाम वैसा ही कहा जाता है। मिश्रित का कथन जटिल होने से सम्भव नहीं है,

प्रति समय उदयागत निषेकों में वृद्धि का यह क्रम बराबर उस समय तक चलता रहेगा, जब तक कि प्रथम समय-प्रबद्ध का अन्तिम निषेक प्राप्त नहीं हो जाता। तत्पश्चात् एक निषेक की वृद्धि तो अवश्य हुई परन्तु साथ-साथ प्रथम समय प्रबद्ध का एक निषेक कम भी हो गया। इसी प्रकार आगे-आगे के प्रत्येक समयों में बराबर एक-एक निषेक की वृद्धि और द्वितीयादि समय-प्रबद्धों के एक-एक निषेक की हानि भी साथ-साथ होती गई। इसलिये प्रति समय उदयागत कुल द्रव्य का या निषेकों का प्रमाण उतना ही होता है जितना कि एक समय-प्रबद्ध का। उदयागत इस समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य में क्योंकि कई सागर पूर्व से लेकर आज तक के सभी समय-प्रबद्धों के एक-एक निषेक सम्मिलित हैं, इसलिये कहा जा सकता है कि प्रति समय एक समय-प्रबद्ध बंधता है और एक ही समय-प्रबद्ध उदय में आता है। एक समय में बंधा द्रव्य अनेक समयों में उदय में आता है, और एक समय उदय आने वाला द्रव्य अनेक समयों में बंधा हुआ होता है। इस पर से सिद्ध हुआ कि वर्तमान एक समय में प्राप्त जो सुख-दु:ख आदि रूप फल है, वह किसी एक समय में बंधे विवक्षित कर्म का नहीं कहा जा सकता, बल्कि गणनातीत काल में बंधे अनेक कर्मों का मिश्रित एक रस होता है। फिर भी उस एक रस में मुख्यता उसी निषेक की होती है जिसका अनुभाग सबसे अधिक होता है।

प्रत्येक जीव क्योंकि निरन्तर पुण्य या पाप का बन्ध करता रहता है, इसलिये प्रत्येक संसारी जीव को हीनाधिक रूप से कभी पुण्य का उदय रहता है और कभी पाप का। जिसे आज पाप का उदय है उसे पाप का ही रहेगा, ऐसा कोई नियम नहीं। निषेक रचना में न जाने किस समय पुण्य के तीव्र अनुभाग वाला कोई निषेक उदय में आ जाए।

२. सत्त्व—इस प्रकार प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य बन्धता है और इतना ही उदय में आता है, इसलिये सत्ता में सदा लगभग समान द्रव्य पाया जाता है। गणित द्वारा निकालने पर सत्ता का यह द्रव्य एक समय-प्रबद्ध से डयोढ़ गुणहानि गुणित जितना होता है, जिसका प्रमाण आगम से जानना चाहिये। सत्ता जीव को बाधक नहीं होती, क्योंकि उदय में आये बिना उसका कोई फल नहीं होता। वह उदय की प्रतीक्षा में केवल निश्चेष्ट पड़ी रहती है। अत: दु:ख-सुख का कारण कर्म का उदय है सत्त्व नहीं।

३. बन्ध उदय सत्त्व सम्मेल—जीव तथा पुदगल दोनों का यह स्वभाव है कि एक दूसरे का योग्य निमित्त पाने पर वे दोनों एक दूसरे के साथ बंधकर कुछ विचित्र अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। वह अवस्था न जड़ होती है न चेतन बल्कि उसे चिदाभास कहना चाहिये। इसलिये जब-जब जीव हलन-चलन या गमनागमन रूप योग द्वारा तथा रागादि उपयोग द्वारा बाह्य जगत में अपने चेतन स्वरूप के अतिरिक्त

अन्य किसी पदार्थ को पकड़ने का प्रयत्न करता है, तब-तब न चाहते हुये भी वह स्वत: द्रव्य कर्म के साथ बंध जाता है। जीव का स्वाभाविक कर्म समता तथा शमतायुक्त साक्षी भाव से इस जगत् को जानना देखना मात्र था। कर्त्तव्य की इस सीमा का उल्लंघन करके उसे जानने की बजाय पकड़ने का प्रयत्न करना एक बड़ा अपराध है और कर्म-बन्धन प्रकृति माता के द्वारा दिया गया दण्ड है। यह जगत् अजायब घर है जिसकी वस्तुयें देखी जा सकती हैं पर छूई नहीं जा सकती। छूने का प्रयत्न करेंगें तो अवश्य पकड़े जायेंगे। इसी प्रकार यहाँ भी समझना। अन्तर केवल इतना है कि मानवकृत अजायब घर में पकड़ने तथा दण्ड देने का कार्य मानव के आधीन है, और इस प्राकृतिक अजायब घर में वह कार्य प्रकृति के आधीन है।

जिस प्रकार बाल कन्या भोग के योग्य नहीं होती, परन्तु युवा हो जाने पर वही पुरुषों में काम वासना जागृत कर देती है, उसी प्रकार आबाधा काल पर्यन्त द्रव्य-कर्म भोग-योग्य या फलदान योग्य नहीं होता, परन्तु उसके पश्चात् वही परिपक्व होकर जीव के गुणों में विकार तथा आच्छादन उत्पन्न कर देता है, और नये शरीर का तथा भोग आदि का सम्पादन भी। जिस प्रकार आम्र वृक्ष पर लगे हुये सभी आम युगपत् नहीं पकते, बल्कि धीरे-धीरे प्रति दिन कुछ-कुछ ही पकते हैं और हमारे भोज्य बनते हैं, उसी प्रकार बद्ध-कर्म के सर्व प्रदेश भी युगपत् उदय में नहीं आते, बल्कि धीरे-धीरे प्रति समय कुछ-कुछ प्रदेश या एक-एक निषेक ही उदय में आता है और जीव को फल देकर झड़ जाता है। जिस प्रकार पकने से पहले वे कच्चे आम केवल वृक्ष पर लगे अवश्य रहते हैं, परन्तु हमारी दृष्टि को आकर्षित नहीं करते, इसी प्रकार उदय में आने से पहले वे कर्म भी सत्ता में पड़े अवश्य रहते हैं, परन्तु जीव में विकार आदि उत्पन्न नहीं करते। जिस प्रकार कि वृक्ष पर लगा हुआ आम भोगा नही जा सकता परन्तु पकते ही खाने के लिये उस पर से तोड़ लिया जाता है, उसी प्रकार सत्ता में पड़ा हुआ कर्म भोगा नहीं जाता, परन्तु उदय द्वारा वही अपना फल देकर झड़ जाता है।

यह क्रम अनादि काल से यों ही चला आ रहा है, और यों ही चलता रहेगा। जब तक जीव बाह्य जगत् में पड़े इन पदार्थों को पकड़ने की अपनी पुरानी टेव छोड़कर, उनका ज्ञाता दृष्टा मात्र नहीं हो जाता तब तक यह क्रम यों ही चलता रहेगा। यह सम्भव न हो ऐसी बात नहीं है। उसकी एक विशेष साधना है, जिसका कथन लेखक द्वारा रचित 'शान्ति पथ प्रदर्शन' नामक ग्रन्थ में बड़ी सुन्दर तथा सरल रीति से किया गया है। निज-कल्याणार्थ तथा कर्म-बन्ध से मुक्ति पाने के लिये पाठक उसे अवश्य पढें।

❑

१३. संक्रमण आदि

१. निराशा में आशा; २. भूमिका; ३. संक्रमण;
४. अपकर्षण; ५. उत्कर्षण ।

१. निराशा में आशा—जीव का अपने रागादि भावों के रूप में अपराध करना, उसके निमित्त से द्रव्य कर्मों का बन्धना, पीछे काल-क्रम से उनका उदय में आना, उसके निमित्त से पुन: रागादि अपराध होना, यह चक्र अनादि तथा स्वत: सिद्ध है। परन्तु इतना ही नहीं, कुछ और भी है, जिसके कारण से कि इस अटूट शृंखला का उच्छेद होना सम्भव है, अन्यथा किसी भी जीव को किसी भी काल में मुक्ति की प्राप्ति न होती। उसी का परिचय देने के लिये यह अधिकार प्रारम्भ किया जाता है।

मन वचन अथवा काय से जीव जो तथा जैसी कुछ भी प्रवृत्ति करता है वैसी ही प्रकृति वाले कर्म-प्रदेश उसके साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं, अन्य प्रकार के नहीं। साथ-साथ उसकी वह प्रवृत्ति जैसे कुछ भी मन्द या तीव्र रागादि कषायों से युक्त होती है, डिग्री टु डिग्री उतना ही मन्द या तीव्र अनुभाग उस कर्म प्रकृति में पड़ता है हीन या अधिक नहीं। इसी प्रकार स्थिति भी उस प्रकृति में डिग्री टु डिग्री उतनी ही पड़ती है, हीन या अधिक नहीं । जिस प्रकार बन्ध की दिशा में उसी प्रकार उदय की दिशा में भी समझना। जिस समय जिस भी प्रकृति का तथा उसके साथ जितने भी अनुभाग का उदय होता है, उस समय जीव को वैसी ही और डिग्री टु डिग्री उतनी ही मन्द या तीव्र परिणाम युक्त प्रवृत्ति करनी पड़ती है, उससे भिन्न प्रकार की अथवा उसकी अपेक्षा किंचित् भी हीन या अधिक नहीं।

इस प्रकार बन्ध पक्ष तथा उदय पक्ष इन दोनों में ही यद्यपि भाव-कर्म और द्रव्य कर्म की परस्पर अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति देखी जाती है, तदपि मुमुक्षु के कल्याण का द्वार बन्द नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार भाव के अनुसार डिग्री टु डिग्री बन्ध होता है और जिस प्रकार उदय के अनुसार डिग्री टु डिग्री भाव होता है, उस प्रकार बन्ध के अनुसार डिग्री टु डिग्री उदय नहीं होता। बन्ध तथा उदय के मध्य सत्ता की एक बहुत बड़ी खाई है, जिसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहते हैं।

जैसा कर्म बंधा है उदय में वैसा का वैसा ही आये, ऐसा कोई नियम नहीं है। सत्ता में रहते हुये उसे अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता है। बन्ध उदय सत्त्व आदि जिन दश करणों या अधिकारों का नामोल्लेख पहले किया गया है, उनमें से अब तक बन्ध उदय तथा सत्त्व इन तीन करणों का ही विवेचन हो पाया है। शेष सात करणों का विवेचन आगे होना है। इसलिये बन्ध तथा उदय की उक्त व्याप्ति सुनकर साधक को घबराना नहीं चाहिए। शेष सात करणों में से संक्रमण, उत्कर्षण तथा

अपकर्षण ये तीन करण उसकी सहायता के लिये हर समय तत्पर हैं। इस अधिकार में इन तीन करणों का ही स्वरूप चित्रण करना इष्ट है। शेष चार करणों का आगे किया जायेगा।

संक्रमण, उत्कर्षण तथा अपकर्षण नामक तीन करण ही वास्तव में वह परिवर्तन है जिसमें से कि सत्ता-गत कर्मों को गुजरना पड़ता है। इन तीनों का पृथक्-पृथक् विस्तार तो आगे किया जायेगा यहाँ केवल उनके सामान्य स्वरूप का संक्षिप्त सा परिचय देना आवश्यक है।

२. **भूमिका**—'संक्रमण' का अर्थ है कर्म-प्रकृतिका बदलकर अन्य रूप हो जाना अर्थात् अशुभ से शुभ अथवा शुभ से अशुभ हो जाना। 'उत्कर्षण' का अर्थ है कर्म-प्रकृति में पड़े हुये अनुभाग का तथा स्थिति का बढ़ जाना। इसी प्रकार 'अपकर्षण' का अर्थ है कर्म प्रकृति में पड़े हुये अनुभाग का तथा स्थिति का घट जाना। युगपत् सर्व अंगों का कथन असम्भव होने से , भले ही बन्ध उदय सत्त्व संक्रमण उत्कर्षण अपकर्षण आदि सबका उल्लेख पृथक्-पृथक् किया गया हो, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ये सब एक दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र कुछ हों। कर्म-व्यवस्था में ऐसा कुछ नियम नहीं है कि जिस समय बन्ध उदय होता है उस समय संक्रमण आदि न होते हों और जिस समय संक्रमण आदि होते हैं उस समय बन्ध उदय न होते हों। और न ही कोई ऐसा नियम है कि जो परिणाम बन्ध में निमित्त होते हैं वे संक्रमण आदि में निमित्त न होते हों और जो परिणाम संक्रमण आदि में निमित्त होते हैं वे बन्ध में निमित्त न होते हों।

आगे पीछे वाला ऐसा कुछ क्रम नहीं है। कर्म-सिद्धान्त के अंगोपांग रूप से वर्णित १० करण यथा योग्य रीति से हीनाधिक रूप में प्रति समय युगपत् हुआ करते हैं, और उन सबका निमित्त जीव का तत्समयवर्ती एक परिणाम ही होता है। तात्पर्य यह कि जो परिणाम बन्ध का कारण है वही उपरोक्त सत्तागत परिवर्तन का अर्थात् संक्रमण आदि का भी कारण है। इस परिवर्तन की बड़ी विचित्रता है।

कभी-कभी तो सत्ता में पड़े कर्मों की प्रकृति ही बदलकर शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ हो जाती है, अथवा क्रोध से मान और मान से क्रोध या माया हो जाती है। कभी-कभी उनकी स्थिति तथा अनुभाग बढ़ जाते हैं और कभी घट भी जाते हैं। शुभ परिणाम द्वारा शुभ प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ जाता है और अशुभ का घट जाता है, साथ ही स्थिति दोनों की कम हो जाती है। इसके विपरीत अशुभ परिणाम से अशुभ की अनुभाग-वृद्धि, शुभ की अनुभाग-हानि और दोनों की स्थिति में वृद्धि हो जाती है। इनमें प्रकृति-परिवर्तन का नाम 'संक्रमण' है, स्थिति तथा अनुभाग की वृद्धि का नाम 'उत्कर्षण' है और उनकी हानि का नाम 'अपकर्षण' है। प्रदेश इन तीनों में अनुस्यूत हैं, इसलिये उनका पृथक् से परिवर्तन कुछ नहीं होता।

इन तीनों बातों के अतिरिक्त कभी ऊपर वाला कर्म या निषेक नीचे आ जाता है, अर्थात् पीछे उदय आने वाला कर्म या निषेक पहले उदय में आ जाता है। इसे 'उदीरणा' कहते हैं जिसका अन्तर्भाव 'अपकर्षण' नामक करण में किया जा सकता है, क्योंकि स्थिति के घटे बिना ऐसा होना असम्भव है। उदय या उदीरणा द्वारा फल देकर कर्म झड़ जाता है अर्थात् अपनी प्रकृति को तथा जीव-प्रदेशों के साथ संश्लेष-सम्बन्ध को छोडकर पुनः सामान्य कार्मण-वर्गणारूप हो जाता है। इसे निर्जरा कहते हैं।

संक्रमण आदि नाम वाले ये सब करण दो-दो प्रकार के हैं—उद्यम-विशेष के बिना प्रत्येक समयवर्ती परिणाम के निमित्त से स्वतः होने वाले, और उद्यम-विशेष से किये जाने वाले। इस उद्यम में ही मोक्ष-मार्ग की साधना निहित है, यह बात आगे बताई जायेगी। यह उद्यम दो प्रकार का होता है—द्रव्यात्मक और भावात्मक। द्रव्यात्मक उद्यम का नाम तप, व्रत, संयम, समिति, ध्यान आदि है, क्योंकि उनका सम्बन्ध मन वचन तथा काय की परिस्पन्दन रूप क्रिया के साथ है। भावात्मक उद्यम का नाम समता तथा शमता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध योग के साथ न होकर उपयोग के साथ है। ध्यान तथा समाधि के द्वारा इसका अभ्यास किया जाता है। द्रव्यात्मक तथा भावात्मक ये दोनों ही प्रकार के उद्यम साधक दशा में सदा साथ-साथ रहते हैं। इनके द्वारा अशुभ कर्म प्रकृतियाँ शुभ में परिवर्तित होती जाती हैं। साथ-साथ शुभ प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि और अशुभ प्रकृतियों के अनुभाग में हानि होती जाती है। स्थिति शुभ तथा अशुभ दोनों की घटती चली जाती है। इसी में साधना का सार्थक्य तथा साधक का हित निहित है।

३. संक्रमण—द्रव्य-कर्म की प्रकृति के पूर्वोक्त परिवर्तन को 'संक्रमण' कहते हैं। इसकी कुछ विशेषतायें जान लेना योग्य है। अनुभाग की हानि-वृद्धि ही वास्तव में इसका सूक्ष्म स्वरूप है, क्योंकि 'प्रकृति' अनुभाग का ही सामान्य रूप होती है। कोई भी मूल प्रकृति अन्य मूल प्रकृति रूप नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभाग की हानि वृद्धि होने पर भी उसकी जाति में भेद नहीं पड़ता। मूल प्रकृति के अन्तर्गत जो उत्तर भेद या उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं, उनमें परस्पर परिवर्तन हो जाना ही संक्रमण है, जैसे कि क्रोध का मान में या अनन्तानुबन्धी का प्रत्याख्यानादि में, अथवा इससे उलटा। इसी प्रकार माया लोभ आदि सभी उत्तर प्रकृतियों में परस्पर जानना, परन्तु मोहनीय की प्रकृतियों में से कोई भी ज्ञानावरणी या दर्शनावरणी बन जाये अथवा दर्शनावरणी से वेदनीय या ज्ञानावरणी बन जाये अथवा ज्ञानावरणी आदि बदलकर मोहनीय की मूल या उत्तर किसी प्रकृति के रूप में परिणत हो जाये, यह सम्भव नहीं। दूसरी विशेषता दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के विषय में है। यद्यपि दोनों सामान्यतया मोहनीय की उत्तर प्रकृतियाँ हैं, परन्तु मूल के तुल्य होने के कारण इनका

परस्पर में संक्रमण नहीं होता। दर्शनमोह की मिथ्यात्व आदि तीन उत्तर प्रकृतियों का परस्पर में संक्रमण होना सम्भव है अथवा चारित्र-मोहनीय की क्रोधादि उत्तर प्रकृतियों का भी। परन्तु यह सम्भव नहीं कि दर्शन-मोहनीय बदल कर चारित्र-मोहनीय बन जाये और चारित्र-मोहनीय बदलकर दर्शन-मोहनीय हो जाये। तीसरी विशेषता आयु कर्म की है। चारों आयु यद्यपि उत्तर प्रकृतियाँ हैं पर उनमें भी परस्पर संक्रमण सम्भव नहीं, क्योंकि उनमें जाति भेद पाया जाता है। अर्थात् एक बार बाँधी हुई नरक आदि भवकी आयु बदलकर मनुष्यादि भववाली बन जाये ऐसा सम्भव नहीं। हाँ जाति वही रहते हुये उसकी स्थिति तथा अनुभाग अवश्य बढ़ घट सकते हैं।

संक्रमण सम्बन्धी इस सिद्धान्त की परीक्षा हो जाती है उन व्यक्तियों पर से, जिनकी प्रकृति पापी से धार्मात्मा और धर्मात्मा से पापी बनती हुई स्पष्ट देखी जाती है। न्याय भी है कि जैसा कोई कार्य करता है, वैसा ही करने की आदत उसे पड़ जाती है और पुरानी आदत छूट जाती है। अत्यन्त खिलाडी बच्चे कदाचित् अधिक पढ़व्वे बनकर खेलकूद से विमुख हो जाते हैं। यही प्रकृति का परिवर्तन या संक्रमण है। समझ लीजिये कि पहली आदत में निमित्त होने वाली जो कर्म-प्रकृति थी वह अवश्य ही संक्रमण करके नवीन प्रकृति रूप से उदय में आ रही है। अन्यथा आदत का बदलना असम्भव था, क्योंकि संसारी जीव की कोई भी प्रवृत्ति कर्मोदय के बिना नहीं होती। यद्यपि कर्म का या कार्मण शरीर का साक्षात्कार हम नहीं कर सकते परन्तु जीव की प्रवृत्तियों पर से, उसमें होने वाले फेर-फार का अनुमान अवश्य कर सकते हैं।

४. अपकर्षण—स्थिति या अनुभाग के घटने का नाम अपकर्षण है। उसका कुछ काल्पनिक चित्रण खेंचता हूँ। स्थिति की निषेक रचनावाली कल्पना को याद कीजिये। एक एक समय पर एक एक समय-प्रबद्ध का एक एक निषेक बैठा हुआ है। अनेक समय प्रबद्धों के अनेकों निषेक एक समय पर स्थित हैं, इस प्रतीक्षा में कि कब उससे पहला समय बीते और उन्हें अपना प्रभाव दिखाने का अवसार प्राप्त हो अर्थात् उदय में आयें। एक समय पर स्थित कुल निषेकों का द्रव्य एक समय-प्रबद्ध प्रमाण है।

जीव के शुभ परिणामों की विचित्रता से ऊपर वाले समय पर स्थित कुछ निषेक वहाँ से उठकर अपने से नीचे वाले कुछ निषेकों के साथ मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ कुल स्थिति १० समयों की है। प्रथम समय वाला समय-प्रबद्ध उदय में है, और २ से १० तक वाले उदय की प्रतीक्षा में हैं अर्थात् सत्ता में स्थित हैं। उदयागत यह समय प्रबद्ध शुभ है जिसके फलस्वरूप जीव के परिणाम कुछ शुभ हो गये हैं, ऐसा समझ लीजिये। उसके इस शुभ परिणाम के निमित्त से नं० १० वाले समय-प्रबद्ध के कुछ निषेक अपने स्थान से च्युत होकर विभक्त हो गए। इन निषेकों का कुछ भाग तो नं० २ वाले समय पर जा बैठा, कुछ नं० ३ पर, कुछ कुछ नं० ४ पर और कुछ नं० ५ पर। इसी प्रकार नं० ९

वाले समय-प्रबद्ध के भी कुछ निषेक च्युत होकर नं० २ से नं० ५ तक के समयों पर पूर्व क्रम से जा विराजे। इसी प्रकार नं० ८ से नं० ६ तक के कुछ निषेक अपने-अपने स्थानों से च्युत होकर उन्हीं नं० २ से नं० ५ तक के समयों पर जा बैठे। इस प्रकार नं० ६ से १० तक निषेकों की स्थिति घट गई, क्योंकि आगे जाकर उदय आने की बजाये अब वे पहले ही अर्थात् नं० २ से ५ वाले समयों के निषेकों के साथ ही उदय में आ जायेंगे। यह निषेकों की स्थिति का अपकर्षण है।

विचार करने से पता चलता है कि उपरोक्त निषेकापकर्षण केवल आंशिक अपकर्षण है, पूर्ण नहीं, क्योंकि इससे जीव का जो १० समयों का संसार बन्ध पहले था वही अब भी है। जब तक किसी समय पर एक भी निषेक शेष है तब तक उस निषेक के समय में आने वाले उदय-फल से वह मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये कल्याणार्थी साधकों को तपश्चरण के द्वारा पूर्ण-अपकर्षण करना ही इष्ट होता है जिससे कि उनके संसार की स्थिति कम हो सके। इसमें अन्तवाले उपरले समयों के सर्व निषेक अपने स्थान से हटकर नीचे आ जते हैं, और इस प्रकार कर्म की सामान्य स्थिति घट जाती है, क्योंकि जब उन अन्तिम समयों पर कोई निषेक ही शेष नहीं रहे तब उन समयों में उदय किसका आयेगा। अपकर्षण के फलस्वरूप जितने कुछ भी अन्त वाले समय द्रव्य-कर्म से खाली हो गए उतने समयों की स्थिति कम हो गई, ऐसा समझना।

इस प्रकार अपकर्षण दो प्रकार का है—सर्व साधारण जीवों को नित्य होने वाला आंशिक अपकर्षण और तपस्वियों को होने वाला पूर्ण अपकर्षण। आंशिक अपकर्षण का शास्त्रीय नाम है 'अव्याघात अपकर्षण' और पूर्ण अपकर्षण का शास्त्रीय नाम है 'व्याघात अपकर्षण'। मोक्ष मार्ग में 'व्याघात अपकर्षण' ही कार्यकारी है। इसके द्वारा साधक प्रतिक्षण हजारों तथा करोड़ों वर्षों की स्थिति का घात करता हुआ थोड़े ही समय में इनके बन्धन से मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार स्थिति के अपकर्षण का विधान कहा, उसी प्रकार अनुभाग के अपकर्षण का भी जानना। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ प्रदेशों की निषेक रचना की कल्पना की गई है, और यहाँ अविभाग प्रतिच्छेदों की निषेक रचना की कल्पना की जाती है। यह कल्पना वर्ग वर्गणा तथा स्पर्धक के रूप में की जाती है। शक्ति के यूनिट रूप एक अंश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। अनेकों अविभाग प्रतिच्छेदों के समूह को धारण करने वाला एक परमाणु 'वर्ग' कहलाता है, अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा जिसे परमाणु कहते हैं, अनुभाग की अपेक्षा या शक्ति-संचय की अपेक्षा उसे ही वर्ग कहते हैं। समान शक्ति वाले वर्गों या परमाणुओं के समूह का नाम 'वर्गणा' है। एक प्रकृति-बन्ध में विभिन्न शक्ति वाली जितनी वर्गणायें हैं उनके समूह का नाम एक 'स्पर्धक' है। इनका विशेष विस्तार आगम से जानना। सामान्य कथन नीचे किया जाता है।

अधिकार १०/२ में निषेक रचना का कथन करते हुए यह बताया गया है कि प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण द्रव्य बंधता है और प्रति समय एक समय-प्रबद्ध प्रमाण ही द्रव्य उदय में आता है। वहाँ बन्ध को प्राप्त होने वाले एक समय-प्रबद्ध में जिस प्रकार निषेक रचना की गई थी उसी प्रकार यहाँ उदय में आने वाले एक समय-प्रबद्ध में निषेक रचना की जाती है। विशेषता केवल इतनी है कि वहाँ जिसे उदयागत समय-प्रबद्ध कहा गया था उसे यहाँ स्पर्धक कहा जाता है। वहाँ जिस प्रकार एक समय-प्रबद्ध को समान प्रकृति वाली कर्म वर्गणाओं के रूप में विभक्त किया गया था उसी प्रकार यहाँ एक स्पर्धक को समान शक्ति-अंशों वाली अनुभाग वर्गणाओं के रूप में विभक्त किया जाता है।

जिस प्रकार वहाँ एक-एक कार्मण वर्गणा को लेकर ईंटों की भाँति ऊपर नीचे चुना गया था, उसी प्रकार यहाँ एक-एक अनुभाग वर्गणा को लेकर ईंटों की भाँति ऊपर नीचे चुना जाता है। विशेषता यह है कि वहाँ की निषेक रचना में हानिक्रम था अर्थात् नीचे-नीचे वाले समयों पर दिये गए निषेकों में अधिक वर्गणायें थीं और ऊपर-ऊपर वाले निषेकों में कम। यहाँ वृद्धि क्रम है। नीचे सबसे अल्प शक्तिवाली अनुभाग वर्गणा रखी जाती है और उसके ऊपर क्रमश: अधिक-अधिक शक्तिवाली वर्गणायें दी जाती हैं। यहाँ तक कि अन्तिम निषेक में सर्वाधिक शक्तिवाली वर्गणायें प्राप्त होती हैं।

जीव के परिणामों के निमित्त से, निषेकों की भाँति ऊपर वाली वर्गणायें अपने स्थान से च्युत होकर नीचे की कुछ वर्गणाओं में मिल जाती हैं, अर्थात् अधिक शक्ति को छोड़कर हीन शक्ति वाली हो जाती हैं। यही अनुभाग का अपकर्षण है। इसके द्वारा अपने समय पर अवस्थित रहते हुए भी निषेकों का अनुभाग घट जाता है। स्थिति के अपकर्षणवत् यह भी दो प्रकार का है—साधारण जीव को होने वाला अव्याघात अपकर्षण और तपस्वियों को होने वाला व्याघात अपकर्षण। मोक्ष मार्ग में व्याघात अपकर्षण कार्यकारी है, जिसमें प्रति समय अनन्त-अनन्त गुणे अनुभाग का छेद होता है।

५. उत्कर्षण—अपकर्षण की ही भाँति उत्कर्षण को समझना। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ तो ऊपर के निषेक को नीचे वाले निषेक में अथवा ऊपर वाली अनुभाग वर्गणा को नीचे वाली अनुभाग वर्गणा में मिलाया जाता था और यहाँ नीचे वाले निषेक को ऊपर वाले निषेक में अथवा नीचे वाली वर्गणा को ऊपर वाली वर्गणा में मिलाया जाता है। नीचे वाले निषेक के ऊपर चले जाने से स्थिति बढ़ जाती है और इसी प्रकार नीचे वाली वर्गणा के ऊपर चले जाने से अनुभाग बढ़ जाता है। विशेष विस्तार आगम से जानना चाहिये। ❑

१४. उपशम आदि

१. भूमिका; २. उपशम; ३. क्षयोपशम; ४. क्षय; ५. पंच भाव; ६. संवर निर्जरा।

१. भूमिका—कर्मोत्पत्ति की स्वाभाविक व्यवस्था, जीव कर्म सम्बन्ध, कर्मों का बन्ध, उदय, सत्त्व, संक्रमण, अपकर्षण तथा उत्कर्षण बता देने के पश्चात् अब तत्सम्बन्धी अन्य प्रमुख अंगों का भी परिचय देना युक्त है। मोक्षमार्ग के साधनभूत तीन प्रमुख अंग या करण और हैं—उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय। उनका संक्षिप्त कथन करने के लिये यह अधिकार प्रारम्भ किया जाता है।

यद्यपि अनादि काल से जीव तथ कर्म-बन्ध का अटूट सन्तान चक्र बराबर चला आ रहा है, और लगभग सभी संसारी जीव इसमें उलझे हुए हैं, व्याकुलता में बराबर घुलते रहते हैं, मरते रहते हैं और जीते रहते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके चंगुल से जीव को पीछा छुड़ाना नितान्त असम्भव हो। अनन्तों व्यक्ति इनसे छुटकारा पाकर परमधाम को प्राप्त हो चुके हैं, कुछ अब भी किन्हीं विशेष स्थलों पर हो रहे हैं, और आगे भी होते रहेंगे। एक बार इनसे छूटने के पश्चात् जीव पूर्णतः शुद्ध तथा असंपृक्त अमूर्तीक स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। फिर तद्देशस्थ भी कार्मण वर्गणायें, आकाश में संचरित वायु की भाँति अथवा कमल पत्र पर पड़े जल की भाँति उसको स्पर्श नहीं कर पातीं। वह सदा के लिये मुक्त रहता हुआ अत्यन्त अतीन्द्रिय सुख-सुधा सागर में निमग्न रहता है। बाह्य जगत् के प्रति उसे समता रहती है और आभ्यान्तर जगत् में शमता। इस अवस्था की प्राप्ति के लिये उसे साधना करनी होती है जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा। इस साधना के फलस्वरूप सत्तागत कर्म-प्रकृतियों में संक्रमण, अपकर्षण तथा उत्कर्षण होता रहता है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। अत्यन्त वृद्धिंगत हो जाने पर संक्रमण, उत्कर्षण तथा अपकर्षण, उपशम क्षयोपशम तथा क्षय का रूप धारण कर लेते हैं। इन तीनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप दर्शाता हूँ।

२. उपशम—उपशम का अर्थ है कुछ देर के लिये शान्त हो जाना। जिस प्रकार मलिन जल को कुछ देर तक निश्चल रख देने पर उसका मैल बर्तन की तली में बैठ जाता है और उसके ऊपर वाला जल सर्वथा निर्मल तथा शुद्ध हो जाता है; इसी प्रकार कुछ काल पर्यन्त निश्चल रूप से साधना करने पर कर्म-मल कुछ देर के लिये नीचे बैठ जाता है अर्थात् अचेत होकर फलदान से विरत हो जाता है। जितने काल तक वह इस अचेत अवस्था में नीचे बैठा रहता है उतने काल तक जीव के परिणाम पूर्णतया निर्मल तथा शुद्ध हो जाते हैं। जिस प्रकार बर्तन के हिल जाने पर नीचे बैठा

मैल ऊपर उठकर पुन: जल को मलिन कर देता है, उसी प्रकार मूर्च्छा-काल बीत जाने पर वह कर्म फिर सचेष्ट हो उठता है अर्थात् उदय में आकर जीव के परिणामों पर अपना प्रभाव डालने लगता है। फलस्वरूप जीव के परिणाम पुन: पूर्ववत् मलिन हो जाते हैं।

यहाँ केवल इतनी बात दर्शानी इष्ट है कि जितनी देर तक कर्म-मल दबा रहा अथवा उदय से विरत रहा उतनी देर तक जीव के परिणाम शत प्रतिशत निर्मल तथा शुद्ध रहे। इतने काल पर्यन्त उसमें न कोई विकल्प उदित हुआ और न कषाय। वह पूर्णतया समता अथवा शमता युक्त रहा। भले ही यह थोड़ा सा काल बीत जाने पर कर्म का उदय आ जाये और उसके प्रभाव से जीव में पुन: विकल्प तथा कषाय जागृत हो जाये, परन्तु इतने काल तक तो वह पूर्णतया निर्विकल्प तथा वीतराग है ही। यद्यपि यह काल अत्यन्त अल्प होता है तदपि जीवन में इसका जो महत्त्व है वह अल्प न होकर महान है। यह बात आगे दर्शाई जायेगी।

कुछ देर के लिये शान्त हो जाने के कारण जीव के इस क्षणिक परिणाम को जीव का औपशमिक भाव कहा जाता है और निमित्तभूत कर्म-मल का क्षण भर को दबे रहना अथवा उदय में न आना कर्म का उपशम कहलाता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सत्ता में रहने वाला कर्म यद्यपि जीव को कुछ भी बाधा नहीं पहुँचाता, परन्तु उदय में आने पर वह अपना फल अवश्य देता है, जिसके कारण जीव की शक्ति का तिरोधान हो जाता है। यह तिरोधान दो प्रकार का होता है—आच्छादन रूप और विकार रूप। ज्ञान दर्शन तथा दान लाभ आदि शक्तियों में आच्छादन होता है विकार नहीं, अर्थात् बादलों से आच्छादित सूर्य-प्रकाश की भाँति इनकी अभिव्यक्ति में कमी पड़ जाती है परन्तु विकृति नहीं होती। दूसरी और समता तथा शमता की शक्ति में विकार होता है आच्छादन नहीं, अर्थात् मदिरा-पान से मूर्च्छित हुई बुद्धि की भाँति इनकी अभिव्यक्ति में कमी कुछ भी नही पड़ती। शक्ति ज्यों कि त्यों रहते हुए वह विकृत हो जाती है। समता इष्टानिष्ट के द्वन्द्व रूप विषमता बन जाती है और शमता चित्त की चंचलता रूप श्रान्ति तथा क्रान्ति बन जाती है। विषमता को मोह कहते हैं और चित्त-श्रान्ति को क्षोभ।

विषमता रूप मोह को उत्पन्न करने वाली कर्म प्रकृति दर्शन मोह कहलाती है और चित्त-श्रान्ति उत्पन्न करने वाली प्रकृति चारित्र-मोह। उपशम इन दोनों प्रकृतियों का ही हो सकता है, ज्ञान आदि का आच्छादान करने वाली ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय प्रकृतिका नहीं। याद रहे कि अघातिया होने के कारण नाम गोत्र आदि शेष प्रकृतियों का कथन यहाँ गौण है। अनादि काल से जीवको आज तक एक क्षण के लिये भी कभी समता तथा शमता की प्राप्ति नहीं हो पाई। कदाचित् गुरु कृपा से तत्त्वदृष्टि जागृत हो जाने पर एक क्षणको उसका स्वाद आता है। वह क्षणिक स्वाद

ही मोह क्षोभ विहीन वह उपशम भाव है जिसे कि जीव का स्वभाव होने के कारण धर्म कहा जाता है। इस अवस्था में मोहनीय प्रकृति उदय से विरत रहती है। यही उस प्रकृति का उपशम है। एक क्षण पश्चात् वह प्रकृति छेड़े गए सुप्त सर्प की भाँति पुनः फुफकारने लगती है। वही उसका उदय में आ जाना है।

जिस प्रकार गाढ़ निद्रा के अकस्मात् भंग हो जाने पर आँख खुल तो जाती है परन्तु क्षण भर के लिए प्रकाश देखकर पुनः मुंद जाती है; इस प्रकार अनादि कालीन विषमता तथा श्रान्ति के अकस्मात् दूर हो जाने पर क्षण भर के लिये पूर्ण समता तथा शमता प्रतीति में आकर पुनः लुप्त हो जाया करती है। यहाँ पूर्ण समता की क्षणिक प्रतीति ही वह क्षणिक तत्त्वदृष्टि है जिसे कि शास्त्रों में उपशम-सम्यक्त्व कहा गया है। दर्शन-मोहनीय प्रकृति का उपशम अथवा उदय-विरति इसका हेतु है। इसी प्रकार पूर्ण शमता की क्षणिक प्रतीति उपशम-चारित्र है और चारित्र-मोहनीय प्रकृति का उपशम अथवा उदय-विरति इसका हेतु है।

गाढ़ निद्रा से आँख खुल जाने के पश्चात् वह खुली ही रहे ऐसा होना सम्भव नहीं। भले ही २-४ बार चुन्धियाकर वह खुल जाये परन्तु प्रथम बार खुलकर आँख अवश्य मुंद जाती है, यह बात सर्व परिचित है। इसी प्रकार गुरु कृपा से अनादिगत विषमता अथवा श्रान्ति दूर हो जाने पर जो समता अथवा शमता प्राप्त होती है वह टिकी रहे ऐसा होना सम्भव नहीं। भले ही दो चार बार समता-विषमता में झूलकर वह टिक जाये परन्तु प्रथम बार तो दर्शन देकर वह अवश्य लुप्त हो ही जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि दर्शन-मोहनीय हो या चारित्र-मोहनीय, इनका उपशम केवल एक क्षण के लिये ही होता है, अधिक समय के लिए नहीं। इन प्रकृतियों के उपशम हो जाने के फलस्वरूप उपशम-सम्यक्त्व तथा उपशम-चारित्र भी क्षण भर के लिए ही अपने दर्शन देते हैं, अधिक समय के लिए नहीं।

अब कर्मों के उपशम का सैद्धान्तिक क्रम संक्षेप में दिखाता हूँ। उपशम वास्तव में विशेष रूप वाले अपकर्षण तथा उत्कर्षण का फल है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। विशेषता इतनी है कि यह उत्कर्षण सत्ता के जिस किसी भी निषेक का नहीं हो जाता है बल्कि किन्हीं विशेष निषेकों का ही होता है। वर्तमान समयवर्ती परिणाम का निमित्त पाकर कुछ मिनट या सैकेण्ड पश्चात् उदय में आने वाले जो थोड़े से निषेक हैं, उन पर ही उपशम-विधान लागू होता है, उनके ऊपर तथा नीचे वाले अन्य निषेकों पर नहीं। अर्थात् मध्यवर्ती उन थोड़े से निषेकों का ही उत्कर्षण अपकर्षण होता है, अन्य का नहीं।

उदाहरणार्थ कुल निषेक ५० हैं। सबसे नीचे का प्रथम निषेक उदय में है। १० निषेक छोड़कर नं० ११ से १५ तक के ५ निषेकों का उत्कर्षण तथा अपकर्षण हो जाय, उसे उन निषेकों का उपशम कहते हैं। इस विधान में इन ५ निषेकों का कुछ

द्रव्य तो नीचे वाले (नं० २ से नं० १० तक के) ९ निषेकों में मिल जाता है और कुछ द्रव्य ऊपर वाले (नं० १६ से ५० तक के) ३५ निषेकों में चला जाता है। दूसरे समय नं० २ वाला निषेक उदय में आता है। उस समय उन्हीं ५ निषेकों का कुछ और द्रव्य नीचे वाले (नं० ३ से १० तक के) ८ निषेकों में तथा ऊपर के ३५ निषेकों में चला जाता है। तीसरे समय नं० ३ वाला निषेक उदय में आता है। उस समय उन्हीं ५ निषेकों का कुछ और द्रव्य नीचे के शेष ७ निषेकों में और ऊपर के ३५ निषेकों में चला जाता है। यहाँ तक कि ८ वें समय नं० ८ वाला निषेक उदय में आ जाता है। उस समय उन ५ निषेकों का शेष बचा सारा द्रव्य नीचे के २ और ऊपर के ३५ निषेकों में चला जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे करके ९ वें निषेक के उदय के समय नं० ११ से १५ तक के ५ समय निषेकों की सत्ता से सर्वथा शून्य हो जाते हैं।

सत्तागत निषेक रचना में अब ११ वें समय के नीचे वाले १० वें समय पर निषेक विद्यमान हैं, और दूसरी तरफ १५ वें समय के ऊपर वाले ३५ समयों पर भी निषेक बैठे हुए हैं। परन्तु ११ वें से 15 वें तक के मध्यवर्ती ५ समयों पर अब कोई निषेक विद्यमान नहीं है। इन पाँच समयों पर जो निषेक पहले विद्यमान थे उनका कुछ द्रव्य तो अपकर्षण द्वारा नं० २ से १० तक के ९ निषेकों के साथ मिलकर अपना फल दे चुका है अथवा दे रहा है, और उनका कुछ द्रव्य उत्कर्षण द्वारा नं० १६ से ५० तक के ३५ निषेकों के साथ मिलकर उदय काल की प्रतीक्षा कर रहा है। इस प्रकार निषेक रचना की पूर्व-स्थित अटूट शृंखला में से मध्यवर्ती ये पाँच कड़ियाँ निकल गई हैं, जिसके कारण पूर्व-स्थित सत्ता में ५ समयों का अन्तराल पड़ गया है। अपकर्षण तथा उत्कर्षण के द्वारा सत्तागत निषेकों की अटूट शृंखला में इस प्रकार अन्तराल डाल देने को शास्त्र में 'अन्तरकरण' कहा जाता है।

अन्तरकरण हो जाने के पश्चात् अपने क्रम पर जब ११ वाँ समय प्राप्त होता है तो प्राकृतिक कर्म-व्यवस्था को वहाँ कोई भी निषेक उदय में आने योग्य दिखाई नहीं देता। इसलिए बेचारी को इस समय खाली माथे पर हाथ धरकर बैठे रहना पड़ता है। इसी प्रकार १२ वें, १३ वें, १४ वें तथा १५ वें समय में भी। फलस्वरूप इन ५ समयों में जीव पूर्ण समता तथा शमता का अनुभव करता है। परन्तु १६ वां समय प्राप्त होते ही वहाँ पर विद्यमान निषेक उदय में आ जाता है जिसके कारण तीन दिन के लिए राज्य प्राप्त कर लेने वाले बच्चे-सक्के की भाँति जीव ५ समयों के लिए प्राप्त अपनी उस शुद्ध दशा को छोड़कर पुनः नीचे आ जाता है और पहले की भाँति ही संसारी बनकर रह जाता है।

इसी बीच के थोड़े से काल का नाम 'उपशम' है, जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अर्थात् कुछ सैकेण्डों प्रमाण होता है। यह उपशम केवल मोहनीय कर्म का ही होना सम्भव है, क्योंकि कषायों का तो क्षणिक शमन देखा जाता है, परन्तु ज्ञान आद गुणों की पूर्ण स्वच्छता हो जाने पर या सर्वज्ञता प्रकट हो जाने पर वह पुनः विलीन हो जाए यह

सम्भव नहीं, जैसे कि हम तुम एक बार जानी हुई बात को फिर सारे जीवन तक या दीर्घ काल तक भूल नहीं पाते।

३. क्षयोपशम—जिस प्रकार नींद से खुली हुई आँख की, एक बार मुन्दने के पश्चात् दो अवस्थायें होती हैं—एक तो पुनः नींद आ जाने रूप और दूसरी कुछ देर आँखे चुन्धियाने रूप; उसी प्रकार कर्म का उपशम हो जाने पर उसकी दो अवस्थायें हो जाती हैं—एक तो पूर्ण उदय आ जाने रूप और दूसरी आंशिक उदय तथा आंशिक उपशम रूप। पहली अवस्था में तो जीव के परिणाम पूर्ण अन्धकार में विलीन हो जाते हैं परन्तु दूसरी अवस्था में कुछ धुन्धला सा प्रकाश प्रतीति में आता रहता है। इस प्रकार के आंशिक उदय का नाम 'क्षयोपशम' है।

इस आंशिक उदय को हम तीन रूपों में देख सकते हैं—एक तो अपूर्णता के रूप में, दूसरे अविशदता या धुन्धलेपन के रूप में और तीसरे हानि-वृद्धिगत तरतमताओं के रूप में। उदाहरण के लिये हम अपने वर्तमान ज्ञान को देख सकते हैं। इसमें तीन बातें पाई जाती हैं। एक तो यह अपूर्ण है, क्योंकि हम सब-कुछ नहीं जानते। दूसरे यह अविशद है, क्योंकि जिन विषयों को हम जानते हैं उनमें भी कहीं न कहीं कुछ न कुछ सन्दिग्धता अवश्य बनी रहती है, अन्यथा हेतु आदि के द्वारा अथवा दूसरे से पूछकर उसे पुष्ट करने की आवश्यकता हमें न होती। तीसरी बात इसमें हानि वृद्धिगत तरतमता भी सर्व प्रत्यक्ष है, किसी का ज्ञान कम है और किसी का अधिक। जिसका ज्ञान आज कम है कल को वह अधिक हो जाता है और जिसका अधिक है, कल को वह कम हो जाता है। ये तीनों बातें प्रत्येक क्षायोपशमिक भाव में स्वाभाविक हैं।

हमारी ज्ञान दर्शन तथा दान लाभ भोग आदि शक्तियों की सकल अभिव्यक्तियें जो आज अनुभव में आ रही हैं वे सब क्षायोपशमिक हैं। कर्म-सिद्धान्त की भाषा में कहें तो इन सकल शक्तियों को तिरोहित या आच्छादित करने वाली ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय प्रकृतियों का क्षयोपशम ही वर्तमान में हमें उपलब्ध है। उपशम इनका सम्भव नहीं और क्षय वर्तमान में प्राप्त नहीं है।

इसी प्रकार जिनका उपशम सम्भव है उन सम्यक्त्व तथा चारित्र नामक शक्तियों के विषय में भी जानना। दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से तत्त्व-दृष्टियुक्त जो समता व्यक्त होती है, और चारित्र-मोहनीय के क्षयोपशम से जो शमता प्राप्त होती है, उन दोनों में भी ये तीनों बातें स्वाभाविक हैं ? दोनों कर्म-प्रकृतियों के क्षयोपशम से प्राप्त समता तथा शमता उपशम की भाँति पूर्ण न होकर अपूर्ण होती हैं, उसकी भाँति अत्यन्त विशद अथवा निश्चल न होकर कम्पित होती हैं, अस्थिर होती हैं। कभी बढ़ जाती हैं और कभी घट जाती हैं। किसी साधक में वे अधिक होती हैं और किसी में कम। जिनमें आज अधिक हैं उनमें कल को कम हो जाती हैं और जिनमें आज कम हैं उनमें कल को अधिक हो जाती हैं।

यह तो इसका आध्यात्मिक स्वरूप हुआ। अब इसका सैद्धान्तिक स्वरूप भी समझिये। क्षयोपशम में क्षय तथा उपशम दोनों सम्मिलित हैं। जिस प्रकार चुन्धियाने वाली आँख को न मुंदी कहा जा सकता है न खुली, उसी प्रकार क्षयोपशम प्राप्त कर्म प्रकृति को न नष्ट कहा जा सकता है न उदित। जिस प्रकार चुन्धियाने वाली आँख में मुंदने की शक्ति निद्रावस्था की अपेक्षा काफी क्षीण हो चुकी है उसी प्रकार उपशम के पश्चात् आंशिक उदय वाली इस अवस्था में कर्म की शक्ति पहले की अपेक्षा अत्यन्त क्षीण हो कर उदय में आती है। वर्तमान निषेक की शक्ति का क्षीण होकर उदय में आना ही यहाँ उस निषेक का 'क्षय' समझना चाहिये। यद्यपि उस अत्यन्त क्षीण शक्ति की अपेक्षा इसे उदय कह सकते हैं परन्तु जीव के गुण को पूर्णतया आच्छादित अथवा विकृत करने के लिये समर्थ न होने से वह यहाँ अत्यन्त गौण है।

उपशम वाला अंश पूर्वोक्त जैसा ही है। ऊपरवाले निषेकों में जो द्रव्य अधिक शक्ति वाला पड़ा है उसका अपकर्षण न होना ही यहाँ उपशम है, क्योंकि यदि कदाचित् वह द्रव्य अपकर्षण द्वारा नीचे वाले निषेकों में मिल जाये तो सारा खेल ही बिगड़ जाये। इस अवस्था में उनका उदित हो जाना अवश्यम्भावी हो जाये। क्षयोपशम के काल तक उस द्रव्य का अपने स्थान में अवस्थित रहना ही यहाँ उपशम है।

इस प्रकार क्षय तथा उपशम इन दोनों के मेल से इस विधान को 'क्षयोपशम' कहा जाता है। क्षीण शक्ति वाले उदय की अपेक्षा इसका दूसरा नाम 'वेदक' भी है, क्योंकि कितना भी क्षीण क्यों न हो कर्म के प्रभाव का वेदन तो यहाँ होता ही रहता है।

आँख चुन्धियाने वाली अवस्था की भाँति कर्म के क्षयोपशम वाली इस अवस्था में जीव के गुण हीन या अधिक रूप में प्रकट अवश्य रहते हैं। जिस प्रकार घोड़ा सदा ही हलका-हलका सोता रहता है, परन्तु सोते-सोते ही दौड़ता तथा रथ को खेंचता भी रहता है, उसी प्रकार कर्म-प्रकृति के क्षयोपशम की दशा में जीव कर्म के प्रभाव का अनुभव भी करता रहता है और साथ-साथ अपनी शक्तियों का रस भी लेता रहता है; अर्थात् वर्तमान के धुन्धले तथा अपूर्ण ज्ञान दर्शन आदि की भाँति समता तथा शमता का हीनाधिक स्वाद भी लेता रहता है।

उपशम की भाँति क्षयोपशम से भी व्यक्ति नीचे गिर जाता है अर्थात् पुनः कर्म-प्रकृति के प्रभाव में आकर अपने उक्त रस से वञ्चित हो जाता है, परन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ उसका अवस्थान उपशम की भाँति क्षण मात्र के लिये न होकर प्रायः अधिक काल के लिये होता है। दूसरी बात यह है कि उपशम से गिरकर पुनः उपशम नहीं होता जब कि क्षयोपशम से गिरकर पुनः क्षयोपशम हो जाता है। इस क्षेत्र में यह गिरना चढ़ना बहुत लम्बे काल तक चलता रहता है।

४. क्षय—जिस प्रकार थोड़ी देर तक चुन्धियाकर आँख पूरी तरह खुलने के लिय समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार कुछ काल पर्यन्त क्षयोपशम से गिर-गिरकर चढ़ते रहने के उपरान्त साधक अन्त में जागृत अवस्था को हस्तगत करने के लिये समर्थ हो जाता है। क्षयोपशम से उदय और उदय से क्षयोपशम इस प्रकार कुछ काल पर्यन्त उन्मज्जन निमज्जन करते रहने के पश्चात् कर्म-प्रकृति की सत्ता समूल नष्ट हो जाती है, जिससे कि दग्ध बीज की भाँति उसका पुनः उदय में आना सम्भव न हो सके। इसे ही कर्म प्रकृति का 'क्षय' होना कहते हैं।

उपशम की भाँति मोहनीय के क्षय से प्राप्त समता तथा शमता भी पूर्ण होती है। अन्तर केवल उनकी स्थिति में है। उपशम से प्राप्त वे केवल एक क्षण को अपना मुख दिखाकर लुप्त हो जाती हैं, जब कि क्षय से प्राप्त वे सदा के लिये अवस्थित रहती हैं। दूसरी विशेषता यह है कि उपशम विधान केवल सम्यक्त्व तथा चारित्र के क्षेत्र में ही लागू होता था, परन्तु 'क्षय' सम्यक्त्व तथा चारित्र के साथ-साथ ज्ञान दर्शन दान लाभ आदि सभी शक्तियों के क्षेत्र में लागू होता है। जिस प्रकार दर्शन-मोहनीय तथा चारित्र-मोहनीय प्रकृतियों के क्षय से तत्त्व दृष्टि-युक्त समता और चित्त-विश्रान्ति युक्त शमता सदा के लिये पूर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय प्रकृतियों के क्षय से ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग आदि शक्तियाँ भी सदा के लिये पूर्ण हो जाती हैं।

इसका कारण यह है कि उपशम विधान में जिस प्रकार जल निथारने की भाँति कर्म-प्रकृति को थोड़ी देर के लिये सुला दिया जाता था उस प्रकार यहाँ नहीं होता। भभके में चढ़ाकर भाप बनाने के द्वारा जिस प्रकार जल को शुद्ध (Refine) किया जाता है उसी प्रकार यहाँ तप की भट्ठी पर चढ़ाकर कर्म-मल को सर्वथा भस्म कर दिया जाता है। इसलिये उपशम-विधान में जिस प्रकार बर्तन की तली में बैठे मैल के पुनः उठकर जल को मलिन बना देने की सम्भावना बनी रहती थी, उस प्रकार यहाँ नहीं रहती। उपशम-विधान में भले ही वर्तमान में कर्म निश्चेष्ट कर दिया गया हो, परन्तु वह जीवित है। जबकि यहाँ कर्म सर्वथा नष्ट कर दिया गया है, इसलिये उसके सर उभारने का भय यहाँ कैसे हो सकता है।

५. पंच भाव—जिस गुण की विरोधी प्रकृति का उदय उपशम आदि होता है, जीव का वह गुण ही ढका जाता है या प्रकट होता है, दूसरे गुण में उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। हो सकता है कि किसी एक प्रकृति का उदय हो और अन्य किसी का उपशम या क्षय आदि हो। उसके फलस्वरूप जीव के कुछ गुण तो ढके रहते हैं और कुछ हीनाधिक रूप में प्रकट रहते हैं। सर्व संसारी जीवों को जितना ज्ञान प्रकट है वह ज्ञानावरणीय प्रकृति के क्षयोपशम के कारण है, और जितना ज्ञान ढका हुआ है वह उसी के उदय के कारण है। आत्मदर्शन का अथवा समता शमता का सर्वथा अभाव मोहनीय के उदय से है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

कर्म के उदय से होने वाले जीव के जो कुछ भी अन्धकारमयी भाव हैं अर्थात् ज्ञानाभाव रूप परिणाम होते हैं या कषाय रूप परिणाम होते हैं, वे सब उसके 'औदयिक भाव' कहलाते हैं। इसी प्रकार कर्म के उपशम से होने वाले परिणाम 'औपशमिक भाव', क्षयोपशम से होने वाले 'क्षयोपशमिक भाव' और क्षय से होने वाले 'क्षायिक भाव' कहलाते हैं। उदय, उपशम क्षयोपशम तथा क्षय से निरपेक्ष जीव के उस त्रिकाली चेतन स्वभाव को 'पारिणामिक भाव' कहते हैं, जो इन सबमें अनुस्यूत है, परन्तु उनमें अनुस्यूत रहते हुए भी जो उदय आदि से सर्वथा अस्पृष्ट है। इस प्रकार संक्षेप से जीव के पाँच भाव होते हैं, जिनका विस्तार आगम से जानने योग्य है।

६. संवर निर्जरा—जीव के परिणामों के निमित्त से जिस प्रकार बन्ध तथा संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण, उपशम आदि होते हैं, उसी प्रकार संवर निर्जरा भी होती है। योगों के निमित्त से होने वाले नवीन कर्मास्रव का रुक जाना, अथवा आगत कर्म-स्कन्ध में किसी प्रकृति-विशेष का न पड़ना अथवा विकृत उपयोग के निमित्त से नवीन स्थिति तथा अनुभाग का न पड़ना 'संवर' कहलाता है। इसी प्रकार तपश्चरण के निमित्त से अथवा समता तथा शमता रूप शुद्ध परिणामों के निमित्त से सत्ता में पड़े हुए कर्मों का झड़ जाना 'निर्जरा' कहलाती है। यह निर्जरा दो प्रकार की होती है—सविपाक तथा अविपाक। इनमें से सविपाक निर्जरा तो सभी को सदा होती रहती है, परन्तु अविपाक निर्जरा कुछ विशेष साधकों तथा तपस्वियों को ही हुआ करती है; क्योंकि अपने परिपाक काल पर स्वतः कर्मों का उदय में आकर झड़ जाना सविपाक निर्जरा कहलाती है, और तपश्चरण के द्वारा, पाल में दबाकर पकाये गए आम्रवत्, अपने परिपाक काल से पहले ही कर्मों को उदय में लाकर झाड़ देना अविपाक निर्जरा है। मोक्ष मार्ग में 'अविपाक निर्जरा' ही कार्यकारी है, क्योंकि इसके साथ नवीन बन्ध नहीं होता, जब कि सविपाक निर्जरा के साथ होता रहता है।

जीव के परिणाम तीन प्रकार के बताये गए थे—शुभ, अशुभ तथा शुद्ध। शुभ तथा अशुभ इन दोनों से क्रमशः पुण्य तथा पापरूप कर्मों का बन्ध होता है, परन्तु शुद्ध परिणाम सर्वथा बन्ध के कारण नहीं हैं, क्योंकि इसमें बन्ध के कारणभूत रागादि विकार नहीं पाये जाते। शुद्ध भाव ज्ञाता दृष्टा रूप समता तथा शमता का नाम है, जो पूर्व कर्मों की निर्जरा का ही कारण होता है, बन्ध का नहीं। यदि उद्यम पूर्वक जीव रागादि भावों को रोककर समता में स्थित रहने का अभ्यास करे तो तत्फलस्वरूप संवर तथा निर्जरा के कारण धीरे-धीरे उसके कर्मों का भार हलका होता चला जाये और कुछ काल में ही कर्मों का उन्मूलन हो जाने पर वह परम शुद्ध दशा को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हो जाये। ❑

१५. कर्म-पुरुषार्थ समन्वय

१. प्रधान प्रश्न; २. यथार्थ पुरुषार्थ; ३. तप का स्थान; ४. तपका स्वरूप; ५. कर्म-पुरुषार्थ समन्वय।

१. प्रधान प्रश्न—जीव-कर्म की स्वाभाविक व्यवस्था के अन्तर्गत १५ बातें बताई गई—द्रव्य तथा भाव कर्म का स्वरूप, दोनों का पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, जीव के मन वचन काय की प्रवृत्ति अथवा योग के निमित्त से होने वाला प्रकृति तथा प्रदेश का आस्रव, उसके रागात्मक उपयोग से होने वाला स्थिति तथा अनुभाग बन्ध, कर्म का उदय तथा उससे जीव के गुणों में विकृति, कर्म की सत्ता, एक समय-प्रबद्ध कर्म-द्रव्य का गणनातीत काल पर्यन्त बराबर उदय में आ आकर खिरते रहना, कर्मों का संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण, उपशम, क्षयोपशम, क्षय, संवर तथा निर्जरा। इन्हीं १५ बातों में सर्व-प्रधान बात है जीव तथा कर्म के पारस्परिक बन्ध का अनादि सन्तान-क्रम। जीव के योग तथा विकृत उपयोग के निमित्त से कर्म का स्वतः बंधना, निज परिपाक काल को पाकर उस कर्म का स्वतः उदय में आना, उदय के फलस्वरूप जीव में विकार का अवश्य होना और उसके निमित्त से पुनः कर्म बन्ध का अवश्य होना। यह अटूट प्रवाह किसी नियन्ता की अपेक्षा नहीं रखता, बल्कि जीव तथा पुद्गल दोनों द्रव्यों की स्वाभाविक बन्ध शक्तियों के कारण स्वतः चलता रहता है। यह जगत की तात्त्विक व्यवस्था है।

यहाँ एक प्रधान प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीव तथा कर्मबन्ध के इस अटूट प्रवाह से जीव का छुटकारा कैसे सम्भव हो, क्योंकि यदि यह सब कुछ स्वाभाविक है तो, भाव के आश्रय पर कर्म और कर्म के आश्रय पर भाव का अन्योन्याश्रित चक्र बराबर चलता ही रहेगा। इसे टूटने को अवकाश कब तथा कैसे होगा?

२. यथार्थ पुरुषार्थ—प्रश्न ठीक है, परन्तु इसको अवकाश उसी समय तक है जब तक कि आप कर्मों के साथ-साथ जीवके शुद्ध परिणामों के प्रभाव को नहीं ज्ञान लेते। किसी तालाब में एक द्वार से पानी आता रहे और दूसरे द्वार से निकलता रहे तो तालाब सूख नहीं सकता, परन्तु यदि आगमन का द्वारा रोक दिया जाये और निकलने का द्वार खुला रहे तो वह तालाब शीघ्र ही खाली हो जाता है। इसी प्रकार जब तक प्रति समय नवीन कर्मों का आस्रव तथा बन्ध होता रहता है, और साथ-साथ उदय में आकर झड़ने रूप सविपाक निर्जरा भी होती रहती है, तब तक जीव कर्मों की सत्ता से मुक्त नहीं हो सकता। परन्तु यदि समता स्वरूप शुद्ध परिणामों के द्वारा नवीन कर्मों का

आगमन रोक दिया जाये अर्थात् संवर कर दिया जाये, और साथ-साथ तपश्चरण के द्वारा अविपाक निर्जरा प्रारम्भ हो जाये तो शीघ्र ही कर्मों की सत्ता समाप्त हो जाती है। इसलिये ज्ञाता-दृष्टा-भावरूप शुद्ध-परिणाम का और इसके साथ-साथ तपश्चरण का आश्रय यदि लिया जाये तो कर्मों की सन्तान से छूटना बिल्कुल सम्भव है। इसी में मोक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ निहित है।

३. तपका स्थान—कुछ लोग इस मार्ग में तपश्चरण का कोई स्थान नहीं समझते, परन्तु उनकी ऐसी बुद्धि युक्त नहीं है। तनिक सा विचार हमको यह बता देता है कि संवर और निर्जरा इन दोनों में से किसी एक के भी न होने पर कर्मों से मुक्त होना असम्भव है। संवर के अभाव में नवीन कर्मों के प्रवेश की धारा बराबर बनी रहती है, जिसके कारण कर्मों की निर्जरा होते हुए भी, सत्ता में कोई अन्तर पड़ने नहीं पाता। दूसरी ओर संवर के सद्भाव में भले ही नवीन कर्मों का प्रवेश होने न पावे, परन्तु निर्जरा के अभाव में पूर्वबद्ध सत्ता तो वहाँ रहेगी ही, जिसके उदय का भय बराबर बना रहेगा। उपशम भाव इसी कारण क्षण भर पश्चात् गिर जाता है कि वहाँ सत्ता में से कर्म का अभाव नहीं हो पाता। वर्तमान में भले कर्म का उदय न हो, परन्तु आगे जाकर सत्ता में बैठा हुआ कर्म अवश्य उदय में आ जाता है। शत्रु को बेहोश करना विशेष कार्यकारी नहीं, बल्कि उसका समूल नाश ही कार्यकारी है। अतः जिस किस प्रकार भी कर्मों की सत्ता को पूर्ण रूपेण धो देना ही श्रेयस्कर है। उपशम का फल इतना ही है कि उस अवसर पर विवेक जागृत हो जाता है और सत्ता वाले कर्मों की शक्ति काफी हल्की हो जाती है। यदि उसके पश्चात् भी उस विवेक का प्रयोग करता रहे तो धीरे धीरे साधक कर्मों का उन्मूलन अथवा क्षय करने के लिए समर्थ हो जाता है, परन्तु यदि प्रमादवश उस विवेक का साधना-क्षेत्र में प्रयोग न करे तो कुछ काल के पश्चात् वह विवेक भी उसी प्रकार प्रकृति के उदर में समा जाता है जिस प्रकार कि वह उपशम भाव।

कर्मों का उन्मूलन करने के लिए द्विविध पुरुषार्थ की अर्थात् संवर तथा निर्जरा की आवश्यकता है। रागादिक विकारों को रोककर शुद्ध परिणाम कर लेना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इसका तो इतना ही फल है कि नवीन कर्म का बन्ध न हो; अर्थात् शुद्ध परिणाम से संवर तो हो जाता है पर निर्जरा नहीं। यद्यपि कुछ निर्जरा भी अवश्य होती है परन्तु वह यहाँ प्रधान नहीं है, क्योंकि वह एक प्रकार से स्वकाल प्राप्त या सविपाक निर्जरा ही होती है, और यदि कुछ अविपाक निर्जरा भी हो तो वह इतनी अल्प होती है कि उससे सारे जीवन में भी कर्मों का निःशेष सफाया हो जाना सम्भव नहीं है। सविपाक निर्जरा से प्रति समय एक निषेक में स्थित समय-प्रबद्ध प्रमाण ही

द्रव्य उदय में आकर झड़ता है, अधिक नहीं। यदि कदाचित् शुद्ध परिणाम के फलस्वरूप होने वाले अपकर्षण का भी ग्रहण कर लिया जाये, तब भी केवल असंख्यात ही निषेकों की निर्जरा प्राप्त होती है, अनन्त की नहीं। सारी आयु में भी इस प्रकार कुछ मात्र ही निषेकों की हानि हो सकेगी, सर्व निषेकों की नहीं। परन्तु वहाँ तो अनन्तानन्त निषेक बैठे हैं, जिनका विनाश तभी सम्भव है जब कि प्रति समय एक की बजाये अनन्त निषेकों की निर्जरा की जाये और वह भी गुणाकार क्रम से बराबर बढ़ती चली जाये, जब तक कि सम्पूर्ण निषेक निःशेष न हो जायें। इसे आगम में 'गुणश्रेणी निर्जरा' कहा गया है।

दूसरी बात यह भी है कि कर्मों की सत्ता के सद्भाव में कोई भी जीव सारे जीवन पर्यन्त शुद्ध परिणामों में स्थित रह सके, यह सम्भव नहीं क्योंकि कुछ मिनटों तक ही कर्म का दबा रहना सम्भव है अधिक लम्बे काल तक नहीं। कुछ मिनटों पश्चात् सत्ता में पड़ा कर्म अवश्य उदय में आ जायेगा और तब शुद्ध परिणामों में टिके रहना असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार पुन: नवीन कर्म-बन्ध का चक्र चल निकलेगा। अत: कोई ऐसा उपाय होना चाहिए कि अल्पमात्र काल में ही गणनातीत समयों पर बैठे निषेकों को युगपत् झाड़ा जा सके। उस उपाय का नाम ही तप है। इसीलिये संवर तथा निर्जरा का विभाजन करके शुद्ध परिणामों को मुख्यत: संवर का और तपश्चरण को मुख्यत: निर्जरा का कारण बताया गया है। सच्चे साधक को दोनों युगपत् वर्तते हैं, इसलिये उसे पृथक् से तप का विकल्प करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, परन्तु समझाने के लिये दो विभाग करने आवश्यक हैं।

४. तप का स्वरूप—जान बूझकर शारीरिक पीड़ाओं को आमन्त्रित करना अथवा स्वत: आये हुए उपसर्ग तथा परीषह को समता से सहन करना तपश्चरण का बाह्य लक्षण है। परन्तु केवल पीड़ाओं को सहन करना ही तपश्चरण हो सो बात नहीं है, इसका कुछ अन्तरंग लक्षण भी है, और वास्तव में वही प्रधान है। वह है दु:ख तथा सुख में समता। ऊपर जो सहन करना कहा है वह वास्तव में समता ही है, विष की घूँट पीने सरीखा कुछ नहीं है। अनुकूल वातावरण में रहकर समता या ज्ञाता दृष्टापने का पूरा अभ्यास कर लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पीड़ाओं के आने पर उसकी वह समता स्थिर रह सकेगी या नहीं। यदि इतनी शक्ति अभी जाग्रत नहीं हुई है, और केवल साम्यता की भ्रान्ति ही बनी हुई है तो साधना में बहुत बड़ी कमी है। भ्रान्ति के निवारणार्थ परीक्षा आवश्यक है।

जीव वस्तुत: चेतन है तथा अमूर्तिक है। जड़ पदार्थों से तथा शरीर की अवस्थाओं से पृथक् व अस्पृष्ट रहते हुए उन्हें साक्षी रूप से जानना मात्र उसका काम

है। शरीर पर आने वाली बाधाओं के साथ तन्मय होकर हाय-हाय करना उसका काम नहीं क्योंकि जड़ शरीर की बाधायें उसकी बाधायें नहीं कही जा सकतीं। शरीर की पीड़ाओं को महसूस करना इस बात का चिह्न है कि अभी तक उसके भावों का शरीर के साथ बन्ध बना हुआ है, भले ही वह अत्यन्त कृश क्यों न हो गया हो। ऊपर जो परीषह सहने की बात कही गई है, उसका वास्तविक अर्थ यही है कि साम्यरस में मग्न रहने के कारण पीड़ा का भान नहीं होता। विष की घूँट की भाँति उसे गला घोंटकर चुपके-चुपके सहते रहना और उपयोग का उसी में अटके रहना, यह सच्चा तप नहीं है। परमाणु मात्र भी भावबन्ध है तो मुक्ति सम्भव नहीं। इसलिये साधक को इतना आन्तरिक बल प्रगट करना चाहिये कि लोक की बड़े से बड़ी भी बाधा उसकी समता को किंचिन्मात्र भी भंग करने के लिए समर्थ न हो सके। वह हर समय ज्ञाता दृष्टा ही बना रह सके, शुद्ध परिणामों में ही अवस्थित रह सके।

इस प्रकार आन्तरिक बल को बढ़ाने के लिये आवश्यक है कि शुद्ध परिणाम या समता के साथ-साथ पीड़ायें सहने का भी अभ्यास करे। पीड़ा सहने का यहाँ वही अर्थ समझें जो कि ऊपर बताया गया है, क्योंकि साधना दुःख सुख में सम रहने की करनी है, पीड़ा सहने की नहीं। वह साधना दो प्रकार की है—अल्प शक्ति-वालों के लिए और अधिक शक्ति-वालों के लिए। अल्प शक्ति वाले अनुकूल वातावरण में रहकर समता का अभ्यास करते हैं, अर्थात् तप नहीं करते। इसीलिये उनकी साधना पूर्णता को स्पर्श नहीं कर पाती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी साधना विफल है। साधना के फलस्वरूप वे इसी भव में या अगले भवों में अधिक शक्तिवालों की श्रेणी में मिल जाते हैं। अधिक शक्तिवाला साधक प्रायः प्रतिकूल और कभी-कभी अत्यन्त भयानक वातावरण में भी रहकर समता का अभ्यास करता है। जब वह इतना समर्थ हो जाता है कि लोक की बड़े से बड़ी शारीरिक पीड़ा भी उसकी समता को चलायमान करने के लिए किंचित् भी समर्थ न हो सके तब उसकी समता पूर्ण हुई कही जाती है, अन्यथा नहीं। इस पर से जाना जाता है कि उसके कर्म निर्जीर्ण हो चुके हैं, जिसके कारण अब उसे व्युत्थान अथवा च्युति का भय नहीं है। इस प्रयोजन के लिये की गई उक्त भयानक साधना का नाम तपश्चरण है।

५. कर्म-पुरुषार्थ समन्वय—पीड़ाओं में अपने साम्यस्वभाव से चलित होने की दुर्बलता वास्तव में कर्म कृत थी, जो कड़े तपश्चरणों के द्वारा भग्न कर दी गई। इसका अर्थ यह हुआ कि तन्निमित्तक कर्मों की सत्ता का उन्मूलन कर दिया गया। इस पर से तपश्चरण के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। कुछ दिन की, कुछ महीनों की, या कुछ वर्षों मात्र की साधना के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों की सत्ता का नाश तभी सम्भव

है, जबकि प्रति समय अनन्त निषेक समाप्त होते रहें। अनन्त निषेकों का एक समय में नाश तभी सम्भव है जबकि ऊपर वाले निषेक अपने काल से पहले ही पाक दशा को प्राप्त होकर उदय में आ जायें, अर्थात् उनका अपकर्षण हो जाये। परन्तु यह अपकर्षण नियम से व्याघात रूप ही होना चाहिये, जो तपश्चरण के बिना सम्भव नहीं, क्योंकि तप-विहीन समता के द्वारा होने वाला अपकर्षण प्रधानतया अव्याघात रूप होता है, अर्थात् उपशम रूप होता है। अपने काल से पहले उदय में आना अविपाक निर्जरा है, इसलिये मोक्षमार्ग में जहाँ समता की आवश्यकता है, वहाँ तपश्चरण का भी एक आवश्यक स्थान अवश्य है।

सभी व्यक्ति समान शक्ति वाले नहीं होते, अतः साधक अवस्था में कोई कम तपश्चरण करता है और कोई अधिक। कम तपश्चरण के द्वारा अल्प कर्मों की सत्ता का विच्छेद होता है और अधिक तपश्चरण के द्वारा अधिक सत्ता का। इसीलिये कम तपश्चरण करने वाले के कर्मों की सत्ता का पूर्ण अभाव दो तीन भवों में होता है, और अधिक तपश्चरण करने वाले का एक ही भव में।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शीघ्र सफलता हस्तगत करने के लोभ से कोई अधिक तपश्चरण करने लगे। विवेकहीन होने के कारण ऐसा करना बाल-तप या अज्ञान-तप कहलाता है, क्योंकि ऐसा करने से शरीर नष्ट हो जाता है और जो अल्प तपश्चरण वह इसके द्वारा कर सकता था उसके लिये भी अवकाश नहीं रह जाता। हर भव में इसी प्रकार करता रहे तो दो तीन भवों में तो क्या हजारों भवों में भी किनारा हाथ नहीं आता। इसलिये शास्त्रों में सर्वत्र शक्तितस्तप तथा शक्तितस्त्याग का उल्लेख किया गया है। विवेक की परीक्षा इसी बात में है कि न तो अधिक कर्कश आचरण करे और न अधिक मृदु, दोनों के मध्य में रहे। न तो अपनी शक्ति को छिपाकर स्वच्छन्द ही बने और न दूसरे की देखम देखी अपने शरीर की उपेक्षा करके अधिक शक्ति वालों जैसा आचरण करे।

न केवल समता पर सन्तुष्ट होकर बैठ जाये और न समता की उपेक्षा करके केवल शरीर-शोषण करने पर उतारू हो जाये। दोनों ही अतियें मोक्ष-मार्ग का नाश करने वाली हैं। यह मार्ग बहुत विवेक का है। जिसे अपने घर का विवेक नहीं है, उसे चाहिये कि किसी विवेकवान् गुरु की शरण में जावे। ❑

१६. कर्मोन्मूलन

१. शंका; २. समन्वय; ३. पुरुषार्थ-उद्भव; ४. पंचलब्धि; ५.मोहोन्मूलन; ६. घात्युन्मूलन; ७. अघात्युन्मूलन; ८. उपसंहार।

१. शंका—जीव तथा कर्म की बन्ध उदय वाली अटूट धारा के अन्तर्गत यह बताया गया है कि जीव के योग तथा उपयोग के कारण जड़ कर्मों का उसके प्रदेशों के साथ बन्ध हो जाता है, जो उत्तर समयों में बराबर क्रम पूर्वक परिपाक को प्राप्त होकर उदय में आता रहता है। इस उदय के कारण जीव को पुन: योग तथा उपयोग में प्रवृत्त होना पड़ता है जिससे वह पुन: बन्ध को प्राप्त हो जाता है। बिना किसी नियन्ता की अपेक्षा किये यह प्रवाह बराबर चलता रहता है।

यद्यपि पूर्वगत अधिकार में यह बताया जा चुका है कि समतायुक्त तपश्चरण के द्वारा इस धारा का विच्छेद किया जा सकता है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि इस अटूट धारा में एक भी समय ऐसा आ जाए जिसमें कर्म का उदय न हो तभी तो तपश्चरणादि में प्रवृत्ति हो सकेगी ? जहाँ सदा कर्म का उदय बना ही रहे वहाँ ऐसी प्रवृत्ति होनी कैसे सम्भव है और उसके बिना कर्मोन्मूलन भी कैसे सम्भव है ?

२. समन्वय—प्रश्न बिल्कुल उचित है, और कर्म-सिद्धान्त को सीखने वाले सभी प्राथमिक विद्यार्थियों में इसका जाग्रत होना भी स्वाभाविक है, परन्तु यह प्रश्न वास्तव में इस जटिल सिद्धान्त की पूरी-पूरी जानकारी न होने का द्योतक है। तनिक भी विचार करें तो अवश्य इसका रहस्य ध्यान में आ जाये। कर्म-सिद्धान्त के इस निबन्ध में हमने जीव के परिणाम, बन्ध, उदय सत्त्व, संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण, उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय ये १० बातें क्रम पूर्वक बताई हैं। उनमें से एक भी बात को दृष्टि से ओझल नहीं करना है। जिस प्रकार बताने में इनका कथन आगे पीछे किया गया है, वस्तु-व्यवस्था में भी ये उसी प्रकार आगे पीछे होते हों ऐसी बात नहीं है। वस्तु-स्वरूप जटिल है। यथा योग्य रूप से इन सबका सद्भाव एक ही समय में रहता है। जब तक दृष्टि में इन सबको युगपत् न देखा जाये तब तक उपरोक्त शंका शान्त नहीं हो सकती। देखो मैं दर्शाता हूँ—

प्रश्न में हमारे पास तीन चीजें हैं—परिणाम, बन्ध तथा उदय। इन तीनों के संयोग से तीन विकल्प उत्पन्न होते हैं—परिणाम से बन्ध, बन्ध से उदय और उदय से परिणाम। यहाँ परिणाम के अनुसार बन्ध होता है यह प्रथम विकल्प ठीक है, उदय के अनुसार परिणाम होता है यह तीसरा विकल्प भी ठीक है; परन्तु विचारना तो यह है कि क्या उपरोक्त दोनों विकल्पों की भाँति नं० २ वाला विकल्प भी ठीक है, अर्थात्

क्या उदय भी बन्ध के अनुसार होता है ? यदि ऐसा होता तो अवश्य ही जीव की मुक्ति कभी न होती। परन्तु सौभाग्य से ऐसा नहीं होता, क्योंकि बन्ध और उदय के मध्य में 'सत्ता' नामक जो तृतीय करण बैठा हुआ है और जिसे कि प्रश्न करते समय आप भूल गए हैं, वह हमें हर सहायता देने को तैयार है। यह अच्छी तरह निर्धारण कराया जा चुका है कि सत्तागत निषेकों में संक्रमण अपकर्षण तथा उत्कर्षण होता रहता है, जिसके कारण उदय-स्थान को प्राप्त करते-करते कर्म-प्रकृति में न जाने कितने हेर फेर हो जाते हैं। इसी कारण जैसा कर्म बंधता है वैसा उदय में नहीं आता। बन्ध किसी और रूप में होता है और उदय किसी और रूप में आता है। सो कैसे, यह बताता हूँ।

यह बात पहले ही अवधारण कर लेनी चाहिये कि जो परिणाम बन्ध का कारण है, वही संक्रमण आदि का भी कारण है। ऐसा नहीं है कि बन्ध के योग्य परिणाम तो कोई और होता हो और संक्रमण आदि के योग्य कोई और। इसलिये प्रत्येक जीव को प्रत्येक समयवर्ती परिणाम द्वारा जहाँ नवीन बन्ध होता है, वहाँ सत्ता में पड़े कर्मों में संक्रमणादि भी तदनुसार अवश्य ही साथ-साथ हुआ करते हैं। इस प्रकार उदय आने तक उस निषेक को न जाने कितने उतार-चढ़ाव देखने पड़ते हैं, यहाँ तक कि जब वह उदय में आता है तब उसका रूप प्रायः बदल चुका होता है। जो निषेक बन्ध के समय पुण्य रूप था, वही उदय के समय कदाचित् पाप रूप हो जाता है अथवा और भी अधिक शुभ अनुभाग वाला हो जाता है; अथवा जो निषेक बन्ध के समय पाप रूप था, वही उदय के समय कदाचित् पुण्य रूप हो जाता है अथवा और भी अधिक अशुभ अनुभाग वाला हो जाता है। इस प्रकार बन्ध तथा उदय के बीच बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

३. पुरुषार्थ-उद्भव—यह बात पहले बताई जा चुकी है कि उदय सदा एक सा नहीं रहता, क्योंकि करोड़ों वर्षों में बंधे शुभ तथा अशुभ समय-प्रबद्धों के विभिन्न निषेक एक एक समय पर स्थित होने के कारण, प्रति समय पाप तथा पुण्य का मिश्रित रूप ही उदय में आया करता है। इस मिश्रण में कभी पुण्य के निषेक अधिक हो जाते हैं और कभी पाप के। संक्षेप में यों कह लीजिये कि स्वतः ही कभी पुण्य का और कभी पाप का उदय आता रहता है। पुण्य प्रकृति के उदय में जीव के परिणाम शुभ होते हैं और पाप प्रकृति के उदय में अशुभ। पुण्य और पाप प्रकृतियों में भी कभी तीव्र अनुभाग का उदय होता है और कभी मन्दका। तीव्र पाप के उदय में परिणाम अत्यन्त मलिन होते हैं और मन्द पाप के उदय में किञ्चित् मलिन। इसी प्रकार तीव्र पुण्य के उदय में परिणाम अत्यन्त निर्मल होते हैं और मन्द पुण्य के उदय में किञ्चित् निर्मल। पुण्य पाप के मिश्रित उदय में परिणाम प्रायः भोगासक्त रहते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र यथा योग्य जानना।

जब तक जीव के तीव्र पाप का उदय रहता है तब तक उसमें मोक्ष-मार्ग सम्बन्धी पुरुषार्थ की जागृति को अवकाश नहीं क्योंकि ऐसी अवस्था में उसके ज्ञान का क्षयोपशम इतना मन्द रहता है कि उसको पारमार्थिक हिताहित का विवेक उत्पन्न नहीं होता। इस श्रेणी में एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी तक के सब प्राणी तथा अत्यन्त पापासक्त चित्त वाले मनुष्य भी आ जाते हैं। कदाचित् सौभाग्यवश स्वतः अपने क्रम पर किसी विवक्षित एक जीव-विशेष को ज्ञानावरणी तथा चारित्र मोहनीय की पाप प्रकृतियों का उदय मन्द पड़ने पर ज्ञान का कुछ क्षयोपशम तथा हिताहित का कुछ विवेक जागृत होता है, तब से यदि वह चाहे तो सम्यक् पुरुषार्थ में चित्त लगा सकता है। इस श्रेणी में मन्द आसक्ति वाले कुछ मनुष्य तथा तिर्यञ्च आते हैं।

मोक्ष-मार्ग के पुरुषार्थ में धीरे-धीरे विकास होता जाता है, जो अन्त में पूर्ण होकर साक्षात् फलदायी होता है। वह पुरुषार्थ पहली दशा में अव्यक्त रहता है और पीछे व्यक्त होता जाता है। पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति का यह क्रमिक विकास पाँच भागों में विभक्त करके दर्शाया जाता है जिसे 'पंच लब्धि' कहा गया है। उन पाँचों के नाम हैं— क्षयोपशम-लब्धि, विशुद्धि-लब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करण-लब्धि। ये लब्धियें केवल उस उस शक्ति की उपलब्धि मात्र हैं, साक्षात् पुरुषार्थ रूप नहीं। जीव इस लब्धि या शक्ति का उपयोग किस दिशा में करे ऐसा कोई नियम नहीं है, यह उसकी रुचि पर निर्भर है। धनकी प्राप्ति होने पर व्यक्ति उसे दान में लगाये या भोगों में अथवा पापाचरण में यह उसकी रुचि पर निर्भर है। इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति होने पर वह उसे तत्त्व-निर्णय में लगाये या एटम-बम बनाने में यह उसकी अपनी रुचिपर निर्भर है। जो व्यक्ति इसका उपयोग आत्म-कल्याण की दिशा में करता है वह अवश्य मुक्त हो जाता है। ऐसे जीव यद्यपि विरले होते हैं पर होते अवश्य हैं। जो करे सो पावे। यहाँ तो इतना सिद्ध करना इष्ट है कि कर्मोदय की अटूट धारा में भी ऐसे अवसर स्वतः प्राप्त होते रहते हैं जिनसे लाभ उठाकर यदि व्यक्ति चाहे तो सत्पुरुषार्थ जागृत कर सकता है। अवसर बीत जाने पर पुनः तीव्र कर्म का उदय आ जाता है, इसलिए प्रथम लब्धि की प्राप्ति पर ही विवेक जागृत करना योग्य है।

४. पंच लब्धि—हिताहित रूप विवेक की प्राप्ति ही प्रथम 'क्षयोपशम लब्धि' है जिसका यदि सदुपयोग न करे तो वह हाथ से निकल जाती है। उसका उपयोग व्यक्ति चाहे तो हित-विचारणा की दिशा में कर सकता है। उसकी प्राप्ति मात्र से ही काम नहीं चल जाता, क्योंकि सभी मनुष्यों में तथा सभी पशु पक्षियों में प्रायः यह योग्यता मौजूद रहती है परन्तु अनादिगत कुटेव के कारण प्रायः सभी उसका उपयोग भोग विलास की दिशा में करते हुए मृत्यु के ग्रास बनते रहते हैं। तथापि मोक्ष-मार्ग पर बढ़ने वाले किसी भी जीव को यह लब्धि अत्यन्त आवश्यक है और स्वतः पुण्योदयवश प्राप्त हो जाया करती है। इसकी प्राप्ति के लिए बुद्धि-पूर्वक पुरुषार्थ करने की अपेक्षा नहीं होती।

क्षयोपशम-लब्धि को प्राप्त किसी एक प्राणी के कदाचित् चारित्रमोह प्रकृति का और भी मन्द उदय आने पर तथा अन्य पुण्य प्रकृतियों का स्वकाल-प्राप्त उदय आने पर उसके परिणाम स्वत: कुछ निर्मल तथा विशुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् उसमें भोगासक्ति कुछ कम हो जाती है और दया दान सेवा आदि के परिणाम जागृत हो जाते हैं। यही दूसरी 'विशुद्धि लब्धि' का स्वरूप है। यह भी बिना किसी पुरुषार्थ के कदाचित् स्वत: प्राप्त हो जाती है। यद्यपि इसकी प्राप्ति में किसी पुरुषार्थ-विशेष की अपेक्षा नहीं पड़ती, परन्तु इसको पाकर व्यक्ति सत्पुरुषार्थ जागृत कर सकता है। चाहे तो इस अवसर को सत्संगति आदि में लगावे और चाहे लौकिक दया दान आदि में। प्राय: ऐसे जीव लौकिक सेवा आदि में ही इसकी सार्थकता मानते हैं, और सत्संगति से वञ्चित रह जाने के कारण आगे नहीं बढ़ पाते। इतना अवश्य है कि किसी भी विवेकवान् व्यक्ति के लिए यह एक दिव्य उपहार है क्योंकि विशुद्ध परिणामों के बिना मोक्ष मार्ग का पुरुषार्थ सम्भव नहीं।

विवेकवान् सत्पुरुषार्थी के लिए यह अवसर बहुत महत्त्वशाली है, क्योंकि क्षयोपशम-लब्धि से जहाँ उसे बुद्धि का विकास करने के लिए अवसर प्राप्त होता है वहाँ ही विशुद्धि लब्धि से हृदय को शुद्ध करने का अवसर मिलता है। आत्मकल्याण की दिशा में प्रयुक्त की गई यह शक्ति कठोरता को मृदुता में परिवर्तित कर देती है। क्षयोपशम लब्धि के सदुपयोग द्वारा यद्यपि बुद्धि का विकास होता है तदपि उसके हेतु से प्राप्त ज्ञानाभिवृद्धि के साथ-साथ ज्ञानाभिमान से व्यक्ति बच नहीं सकता। इसलिए बुद्धि के क्षेत्र में प्रगति करके भी वह हृदय के क्षेत्र में पिछड़ जाता है। ज्ञानाभिमान के कारण उसका हृदय इतना कठोर हो जाता है कि उसे अपने से अधिक ज्ञानवान् अथवा गुणवान् इस जगत में अन्य कोई भी दिखाई नहीं देता। वह अपने को सर्वज्ञ समझ बैठता है। अपना सत्कार कराते हुए भी दूसरे का सत्कार करना भूल जाता है। सबको तुच्छ समझता है और उनका उपहास तथा तिरस्कार करने में ही अपने ज्ञान का सार्थक्य समझ बैठता है। बुद्धि के कपाट खुल कर भी उसके हृदय के कपाट बन्द हो जाते हैं। यद्यपि दूसरों को उपदेश देता है परन्तु उसके अपने जीवन में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता।

विशुद्धि-लब्धि उसे जीवन-शोधन का अवसर प्रदान करती है। यदि लौकिक दया दान आदि तक ही सीमित न रखकर इसे पारमार्थिक क्षेत्र में भी प्रयुक्त करे तो इसके द्वारा उसके हृदय में विनय नाम का महान् गुण प्रकट हो जाता है। आत्म-गुण और पर-दोष दर्शन की बजाय अब उसे आत्म-दोष और पर-गुण दर्शन होने लगता है। क्षयोपशम-लब्धि के द्वारा जहाँ उसे तात्त्विक समाधान हो जाने के कारण नि:शंकित गुण प्राप्त होता है वहाँ ही विशुद्धि-लब्धि के द्वारा उसे उपगूहन, उपवृंहण, वात्सल्य तथा स्थितिकरण गुण प्राप्त होते हैं। इन सब गुणों के कारण वह गुरु बनने की बजाये शिष्य बनना सीख जाता है। शिष्य बनते ही गुरु की उपलब्धि उसके लिए सहज हो जाती है।

तात्त्विक रहस्य को स्पर्श करने में सफल हो जाता है। यह मोक्ष का साक्षात् पुरुषार्थ है। इस लब्धि का विशेष रूप नीचे पृथक् से दिया जाता है।

५. मोहोन्मूलन—करण-लब्धिके तीन भेद हैं—अध: करण, अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण। करण नाम परिणाम का है। प्रतिक्षण अनन्त गुणी विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ जीव का परिणाम बराबर आगे बढ़ता चला जाता है। क्योंकि यह परिणाम अलौकिक दिशा का है, इसलिए इसके द्वारा होने वाले संक्रमणादि भी बहुत अधिक होते हैं। अगले-अगले प्रत्येक समय में अधिक-अधिक शुभ अनुभागवाले निषेक उदय में आते हैं। स्थिति के घटने की रफ्तार बहुत बढ़ जाती है। तीनों करणों का विस्तार तो यहाँ किया जाना सम्भव नहीं है, हाँ संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि ये तीन करण परिणाम-विशुद्धि की उत्तरोत्तर उन्नत तीन श्रेणीयें हैं। प्रथम श्रेणी में प्रगति कम होती है, द्वितीय श्रेणी में उससे अधिक और तृतीय श्रेणी में उससे भी अधिक। क्रम पूर्वक इन तीन श्रेणियों में से गुजरते हुए वह दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने में सफल हो जाता है। उपशम का स्वरूप पहले बताया जा चुका है, अर्थात् अपकर्षण, उत्कर्षण द्वारा सत्ता के मध्यवर्ती कुछ निषेकों को अपने स्थान से हटाकर वह स्थान बिल्कुल खाली कर देता है। उदय धारा जब खाली स्थान वाले उन समयों में प्रवेश करती है तो वहाँ कोई भी निषेक उदय में आने योग्य नहीं पाती। उदय के अभाव में साधक की अन्तर्दृष्टि खिल उठती है, जिससे कि उसे बाह्याभ्यन्तर तात्त्विक व्यवस्था का साक्षात्कार हो जाता है। इसे ही 'उपशम सम्यक्त्व' की प्राप्ति कहते हैं।

उपशम का काल क्योंकि अत्यन्त अल्प होता है, अत: कुछ ही समय पश्चात् उसके परिणाम पहले की भाँति अन्धकार में चले जाते हैं। परन्तु उपशम के क्षणिक संस्कार के कारण वह पुन: ऊपर उठता है। यद्यपि पहले की भाँति वेग के साथ प्रगति तो करने नहीं पाता परन्तु गिरता पड़ता चलता अवश्य रहता है। इस अवस्था में वह 'क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि' कहलाता है। क्षयोपशम का रूप पहले दिखाया जा चुका है। यहाँ यद्यपि दर्शनमोहनीय कर्म उदय में आ जाता है परन्तु परिणामों की उपर्युक्त विशुद्धि के कारण उसका अनुभाग अत्यन्त क्षीण होकर ही उदय में आता है, जो उस तात्त्विक दृष्टि का लोप करने की तो सामर्थ्य नहीं रखता, परन्तु उसको कुछ मलिन अवश्य कर देता है। इससे उसकी साधना में कोई मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, और वह बराबर अपनी शक्ति के अनुसार गिरता पड़ता अपने परिणामों की सम्भाल करता रहता है। फलस्वरूप एक दिन दर्शन-मोह का समूल नाश अथवा 'क्षय' करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है।

६. घात्युन्मूलन—यहाँ ही उसकी साधना का अन्त नहीं हो जाता। दृष्टि अत्यन्त निर्मल हो जाने के कारण वह अत्यन्त निर्भय हो जाता है। उसका बल यहाँ

तक बढ़ जाता है कि वैराग्य की श्रेणियों पर चढ़ता हुआ वह सर्व बाह्य ग्रन्थियों को त्यागकर निर्ग्रन्थ हो जाता है, और कठोर तप तथा ध्यान समाधि आदि के द्वारा अन्तरंग ग्रन्थियों को भी तोड़ने का अभ्यास करने लगता है। फलस्वरूप कर्मों की सत्ता में भगदड़ मच जाती है। स्थिति तथा अनुभाग का बड़े वेग से अपकर्षण होने लगता है। आगे-आगे उत्तरोत्तर मन्द अनुभाग को लेकर ही कर्म उदय में आता है, जिससे साधना बराबर बढ़ती जाती है। इस प्रकार कुछ ही समयों में चारित्रमोह का उपशम और फिर पूर्व क्रम से क्षय हो जाता है। उसकी सत्ता का उन्मूलन हो जाने के कारण चारित्र 'यथाख्यात' नाम पाता है, अर्थात् समता तथा शमता जैसी लक्षित की गई थी वैसी हो जाती है। क्योंकि मोह तथा क्षोभ ही ज्ञान आदि को आच्छादित अथवा तिरोहित करते थे इसलिये उनका अभाव ही जाने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय ये तीनों घातिया प्रकृति भी बेचारी उसका साथ छोड़ने के लिये बाध्य हो जाती हैं। फलस्वरूप वह सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा तथा सर्वसमर्थ हो जाता है। यही है उसकी अर्हन्त अवस्था जिसे जीवन्मुक्ति भी कहते हैं। इस अवस्था में वह शरीरयुक्त होते हुए भी परमात्मा है।

७. अघात्युन्मूलन—यद्यपि शरीर से सम्बन्ध रखने वाले आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय इन चार अघातिया प्रकृतियों की सत्ता अभी विनष्ट नहीं हुई है, परन्तु मोहनीय के अभाव के कारण जली रस्सी के बटों की भाँति वे अब निष्फल हैं। शरीर, आयु तथा भोग को बनाये रखना मात्र ही उनका काम रह जाता है। जीव को सुख दुःख पहुँचाने से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः अर्हन्त अवस्था को प्राप्त जीवन्मुक्त वह सशरीर परमात्मा, जब तक आयु पूरी नहीं होती तब तक भव्य जीवों के कल्याणार्थ दिव्य उपदेश देता हुआ स्थान-स्थान पर विहार करता रहता है। आयु के अन्तिम क्षणों की प्राप्ति हो जाने पर वह शरीर तथा वचन की क्रियाओं का निरोध करके निश्चल हो जाता है, जिसके कारण अघातिया कर्म भी वायु के वेग से उड़ने वाले सूखे पत्तों की भाँति नौ दो ग्यारह हो जाते हैं।

शरीर पूर्ण हो जाने पर वह अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण अध्यात्म-लोक के शिखर पर जा विराजता है, जहाँ कि वह सदा के लिए समता तथा शमता रूप चिरन्तन-शान्ति में अवस्थित रहेगा।

कर्मों के बन्धन तोड़ देने के कारण वह अब मुक्त है और विकल्पों तथा कषायों रूप आभ्यन्तर जगत का लय हो जाने से शून्य। इन कारणों का अभाव हो जाने से अब उसे शरीर धारण करने को अवकाश नहीं, इसलिए विदेह-मुक्त है और जीवन का प्रयोजन सिद्ध हो जाने से सिद्ध है। अनन्तों ऐसे हो गए हैं और अनन्तों ऐसे होते रहेंगे। आप सब भी ऐसा होने का प्रयत्न करें, यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

८. **उपसंहार**—इस प्रकार कर्मोदय के रहते हुए भी सत्तागत कर्मों के संक्रमण आदि के द्वारा कोई भी व्यक्ति निर्बाध रीति से साधन पथ पर अग्रसर हो सकता है। मोक्ष-मार्ग भी अक्षुण्ण बना रहता है और कर्म-सिद्धान्त में भी बाधा नहीं आती। यह है जैन दर्शन का विचित्र कर्म-सिद्धान्त, जिसका आधार चेतन तथा अचेतन वस्तुओं की तात्त्विक व्यवस्था है, कोई नियन्ता नहीं। यही कारण है कि अनादि काल से संसार तथा मोक्ष की अथवा दु:ख-सुख आदि द्वन्द्वों की यह धारा, बिना किसी भूल के चली आ रही है और इसी प्रकार चलती रहेगी। कोई बुद्धिशाली व्यक्ति तो कदाचित् कहीं पर भूल कर भी सकता है, परन्तु तात्त्विक व्यवस्था में यह सम्भव नहीं। जीव सूक्ष्म से सूक्ष्म भी दोष करेगा तो तुरन्त बन्ध जायेगा। अनुनय, विनय या क्षमा के लिए यहाँ अवकाश नहीं। अत: मुमुक्षु जनों को पद-पद पर सावधान रहकर चलने की आवश्यकता है।

पुस्तक के कवर पर दिया गया चित्र कर्म-सलिल में अथवा संसार-सागर में डूबे हुए उस संसारी जीव की दयनीय दशा का निदर्शन करता है, जो कि जल में डूबे हुए कमल की भाँति आत्म विकास से वञ्चित रह रहा है, और निराशा के कारण जिसकी गर्दन नीचे की ओर लटकी हुई है। उपरोक्त प्रकार यदि वह सत्पुरुषार्थ जाग्रत करे तो धीरे-धीरे इस महा-सलिल से ऊपर उठकर सागर को तर जाये।

'मैं चेतन हूँ, जानना देखना मेरा कर्त्तव्य है' ऐसा निर्णय न करना तथा अपने कर्त्तव्य-क्षेत्र का उल्लंघन करके अन्य पदार्थों के साथ स्वामित्व सम्बन्ध जोड़ना, उनमें अहंकार ममकार करना, उनको अपने लिए इष्ट या अनिष्ट समझना तथा आसक्त-चित्त हुआ उनमें वर्तन करना, ये सब आध्यात्मिक अपराध हैं, अत: बन्ध के कारण हैं, विकास के विरोधी हैं। ऐसे भावों को प्रकट न होने देने में ही कर्म-बन्धन से मुक्त होने की साधना निहित है। ऐसी तात्त्विक दृष्टि प्रदान करने वाले 'जिनेन्द्र' भगवान हम सबको बल दें कि हम भी उनकी भाँति कर्मों का उन्मूलन कर अर्हन्त पदको प्राप्त हो सकें, इस महा सलिल से ऊपर उठकर, संसार सागर से पार हो सकें।

❑